मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 54 ●वर्ष 6, अंक 11 ● जनवरी 2017 ● पाँच रुपये ● 16 पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

सुधार के नाम पर मेडिकल शिक्षा को बर्बाद करने की तैयारी 13

नकली देशभक्ति का शोर और सेना के जवानों की उठती आवाज़ें 16

"अच्छे दिन" के शोर के बीच बढ़ती किसानों-मज़दूरों की आत्महत्याएँ 16

पाँच राज्यों में विधानसभा चुनाव

हिन्दुत्ववादी फासिस्टों और रंग-बिरंगे लुटेरे चुनावी मदारियों के बीच जनता के पास चुनने के लिए क्या है?

सम्पादक मण्डल

पाँच राज्यों – उत्तर प्रदेश, पंजाब, उत्तराखण्ड, गोवा और मणिपुर में विधानसभा चुनावों की घोषणा हो चुकी है। नरेन्द्र मोदी की अगुवाई में हिन्दुत्ववादी फासिस्ट भाजपा और संघ परिवार इन चुनावों में जीत के लिए पूरा ज़ोर लगाये हुए थे और पिछले कई महीनों से बेहिसाब पैसे खर्च कर रहे थे, लेकिन 8 नवम्बर की नोटबन्दी ने फिलहाल उनका खेल बिगाड़ दिया है। भले ही 98 प्रतिशत जनता नोटबन्दी के पक्ष में होने के दावे किये जा रहे हैं, लेकिन वास्तव में भाजपा के शिविर में घबराहट है। ऐसा न होता तो "सर्जिकल स्ट्राइक" को लेकर देशभर में होर्डिंग लगवाने वाले अब तक इसका श्रेय लेने के लिए आपस में होड़ लगा रहे होते।

इन चुनावों से जनता को क्या मिलेगा और इनके प्रति मज़दूर वर्गीय रुख क्या हो, इस पर बात करने से पहले आइये ज़रा चुनाव वाले राज्यों की स्थिति पर एक नज़र डाल लें।

उत्तर प्रदेश 403 विधानसभा सीटों के साथ देश का सबसे बड़ा राज्य और भाजपा के लिए बेहद महत्वपूर्ण है। पिछले लोकसभा चुनाव में मुज़फ़्फ़रनगर दंगों के ज़रिए किये गये धार्मिक ध्रुवीकरण और मोदी के झूठे वादों के अन्धाधुन्ध प्रचार की बदौलत भाजपा यहाँ 73 सीटें जीत गयी थी। ऐसी हवा बनाने की कोशिश की जा रही थी कि विधानसभा में भी पार्टी ऐसी ही सफलता दोहरायेगी। मगर मोदी के ढाई साल के कुशासन, वादाख़िलाफ़ी, भयंकर महँगाई, बढ़ती बेरोज़गारी से परेशान लोगों का मोहभंग तेज़ी से हो रहा था, रही-सही कसर नोटबन्दी ने पूरी कर दी। शहरी मध्यवर्ग का एक हिस्सा भले ही अब भी विमुद्रीकरण और मोदी के गुण गा रहा हो, लेकिन आम मेहनकश लोगों और छोटे शहरों तथा ग्रामीण इलाकों में से इसे लेकर भारी गुस्सा है। हालाँकि भाजपा ने अपनी ओर से ज़ोर लगाने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। मोदी सरकार आने के बाद से उत्तर प्रदेश में साम्प्रदायिक हिंसा की छोटी-बड़ी 400 घटनाएँ हो चुकी हैं। जातीय ध्रुवीकरण कराने और छोटी-छोटी जातियों को भाजपा के पक्ष में करने के लिए आरएसएस के लोग और अमित शाह लगातार जोड़तोड़ में लगे रहे हैं। बसपा को तोड़ने में उन्हें शुरू में सफलता भी मिली थी लेकिन अब लगता है कि स्वामी प्रसाद मौर्य जैसे नेताओं की हालत बिहार में जीतन राम माँझी से अलग नहीं होने वाली है। मोदी लहर के उतार और नोटबन्दी के झटके के बाद भाजपा के लिए कोई चाल कामयाब होती नज़र नहीं आ रही है। ऐसे में साम्प्रदायिक कार्ड खेलने के अलावा उसके पास और तरकीब नहीं है। पूर्वांचल में योगी आदित्यनाथ पार्टी नेतृत्व से भले ही नाराज़ चल रहे हों लेकिन उसकी हिन्दू युवा वाहिनी के लोग पूर्वी उत्तर प्रदेश में पिछले लम्बे समय से साम्प्रदायिकता की आग सुलगाने में लगे रहे हैं। पश्चिमी उ.प्र. में मुज़फ़्फ़रनगर-कैराना की आँच को लगातार ज़िन्दा रखने की कोशिशें जारी हैं। चरणसिंह की विरासत पारम्परिक किसान राजनीति के विघटन के बाद, अपनी वर्ग प्रकृति से निरंकुश ग़ैर-जनवादी प्रकृति वाले पश्चिमी उत्तर प्रदेश के कुलकों-फ़ार्मरों के बड़े हिस्से में हिन्दुत्ववादी फासीवाद का समर्थन-आधार बना है। भाजपा इसे भुनाने की पूरी कोशिश कर रही है। मुज़फ़्फ़रनगर दंगों के मुख्य आरोपियों में से एक, संगीत सोम की गाड़ी से दंगों की दर्जनों सीडी पकड़े जाना तो बस एक बानगी है।

प्रदेश में सत्तारूढ़ समाजवादी पार्टी में महीनों से चल रहा पारिवारिक ड्रामा ऐन चुनाव से पहले बेहद योजनाबद्ध ढंग से निपट गया है और सारी गोटियाँ सही-सही जगहों पर फिट हो गयी हैं। अखिलेश यादव की छवि चमकाने के लिए हुए इस नाटक की असलियत भी बहुत से लोगों की समझ में आने लगी है। खींचतान, रूठने-मनाने आदि की रस्मों के बाद कांग्रेस के साथ गँठजोड़ भी पक्का हो गया है। बहुत से लोगों को इस "धर्मनिरपेक्ष" गठबन्धन से बड़ी

(पेज 8 पर जारी)

नोटबन्दी को लेकर सारे सरकारी दावे झूठे: जनता की मेहनत की कमाई पर डाका, मुट्ठीभर अमीरों को फ़ायदा पहुँचाने के लिए तमाम तरह के घपले-घोटाले उजागर

मुकेश त्यागी

नोटबन्दी के सवाल पर हम पहले के अंकों में विस्तार से लिख चुके हैं कि इस हमले का असली निशाना काला धन नहीं बल्कि मुल्क़ के ग़रीब, मेहनतकश लोगों की थोडी बहुत कमाई/सम्पत्ति था, जिसका एक हिस्सा जबरिया हथिया कर मालिक तबक़े को हस्तान्तरित करने का अभियान इसके द्वारा छेड़ दिया गया है। वैसे ख़ुद सरकार शुरू में तो कहती रही कि वह इसके द्वारा काले धन को समाप्त कर टैक्स वसूली बढ़ाएगी, नक़ली नोट के धन्धे को समाप्त करेगी और आतंकवाद की कमर तोड़ेगी। लेकिन फिर बाद की दो बातें तो बिल्कुल भुला ही दी गयीं क्योंकि ये बिल्कुल ही हास्यास्पद थीं, और काले धन के सवाल को भी पीछे कर भारत को कैशलेस या नक़दी विहीन डिजिटल अर्थव्यवस्था बनाने की बात पर ही मुख्य ज़ोर दिया जाने लगा। हालाँकि एक न्यायप्रिय समाज में तो जिस क़िस्म की भारी तकलीफ़ें अपने पुराने नोट बदलने या जमा करने के लिए आम लोगों को उठानी पड़ीं, बैंकों के बाहर लाइनों में जैसे सैकड़ों जानें गयीं, और कोई भी तर्क-दलील के बग़ैर, सिर्फ़ वही इस फ़ैसले को घोर अन्यायपूर्ण घोषित कर दिये जाने के लिए पर्याप्त होना चाहिए था, पर हमारे अत्यन्त असमान, वर्गविभाजित समाज में न्याय की बात कहाँ? इसलिए हम समाज के विभिन्न वर्गों पर इसके असर का एक ब्यौरा आगे पेश करेंगे।

मोदी नीत सरकार का कहना था कि नोटबन्दी के इस क़दम से काले धन वाले घबरा जायेंगे और अपनी नक़दी को बैंकों में जमा करने के बजाय जलाना, पानी में बहाना, आदि तरीक़े से नष्ट करना शुरू कर देंगे। भोंपू बुर्जुआ मीडिया में यह ख़बर भी फैलायी गयी थी कि 3 से 5 लाख करोड़ तक की काली कमाई इससे बरबाद हो जायेगी, जिसके नष्ट होने का सीधा लाभ सरकार को मिलेगा और मोदी सरकार इससे बड़े-बड़े लोक कल्याणकारी कार्य शुरू करेगी। लाइनों में भारी तकलीफ़ें झेलती आम जनता को भरमाने के लिए ऐसी भी अफ़वाहें फैलायी गयी थीं कि इससे प्राप्त धन से उनके जनधन खातों में भी कुछ पैसा डाला जायेगा। लेकिन हमने शुरू में ही कहा था कि इस फ़ैसले से काले धन या टैक्स चोरी, भ्रष्टाचार और आपराधिक कामों से जुटाये गये धन पर कोई असर नहीं होगा। पहली बात तो यह कि कुछ तात्कालिक ज़रूरतों को छोड़कर यह काली कमाई नक़दी में रखी ही नहीं जाती, सिर्फ़ 5% ही कैश में होती है क्योंकि काले धन वाले लोग इसे आगे और कमाने वाले धन्धों में लगाते हैं। और अगर इनके पास कुछ नक़दी रहे भी तो इस व्यवस्था में अपनी पहुँच के कारण उन्हें इसे खपाने में कोई दिक़्क़त

(पेज 9 पर जारी)

हिन्दुत्ववादी फासिस्टों और रंग-बिरंगे लुटेरे चुनावी मदारियों के बीच जनता के पास चुनने के लिए क्या है?

(पेज 8 से आगे)

राजनीति का केन्द्र यदि संगठित हो तो रणकौशल के तौर पर बुर्जुआ संसदीय चुनावों के मैदान में भी फासिस्टों से भिड़ंत की जा सकती है, लेकिन यह मुगालता पालना आत्मघाती होगा कि चुनावी हार-जीत से फासिस्टों को पीछे धकेला जा सकता है। मेहनतकश जन समुदाय (शहरों-गाँवों के सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा) के सभी हिस्सों का फासीवाद-विरोधी साझा मोर्चा आज की सर्वोपरि ज़रूरत है। इसके बाद ही निम्न मध्य वर्ग के रैडिकल, सेक्युलर तत्वों- विशेषकर छात्रों-युवाओं की जुझारू आबादी को, मजबूती से साथ लिया जा सकेगा। बुर्जुआ वर्ग का कोई भी हिस्सा या बुर्जुआ वर्ग की कोई भी पार्टी फासीवाद विरोधी संघर्ष में मेहनतकश जनता का रणनीतिक मित्र नहीं हो सकती। संसदीय वाम जब फासीवाद विरोधी संघर्ष को चुनावी संघर्ष और प्रतीकात्मक प्रतिरोधों तक सीमित कर देता है, जब वह मज़दूर वर्ग की राजनीतिक शिक्षा और राजनीतिक संघर्षों को तिलांजलि देकर उसकी राजनीतिक चेतना को कुन्द करता है, जब वह मुट्ठीभर संगठित कुलीन मज़दूरों तक सिमटकर 95 प्रतिशत अतिशोषित असंगठित सर्वहाराओं को पूँजीवादी निर्बन्ध लूट और बुर्जुआ राजनीतिक वर्चस्व की अधीनस्थता के लिए अरक्षित छोड़ देता है, तो वह एक ऐतिहासिक अपराध और ऐतिहासिक विश्वासघात करता है।

ग़ौरतलब है कि 1980 के दशक के उत्तरार्द्ध से ही, भाजपा चाहे सत्ता में रहे या न रहे, हिन्दुत्ववादी फासीवादी लहर थोड़ा आगे-पीछे होते हुए, कभी कुछ तेज तो कभी मद्धम गति से लगातार आगे बढ़ती रही है। आगे भी भारतीय बुर्जुआ समाज में यह लगातार अपनी ज़्यादा से ज़्यादा आक्रामक उपस्थिति तब तक बनाये रखेगी, जबतक क्रान्तिकारी राजनीति संगठित होकर इसका प्रतिरोध नहीं करेगी।

बीसवीं शताब्दी में बुर्जुआ राजनीति में धुर दक्षिणपन्थी और फासिस्ट प्रवृत्तियाँ विशेषकर उन दौरों में मजबूत होकर सिर उठाती थीं जब पूँजीवाद आवर्ती चक्रीय क्रम में आने वाले आर्थिक संकट और मन्दी के दौर से गुजरता था। 1920-30 के दशकों की महामन्दी और महाध्वंस को समझे बिना हिटलर और मुसोलिनी को एक परिघटना के रूप में नहीं समझा जा सकता। उस समय पश्चिम के सभी देशों में फासीवाद एक आन्दोलन के रूप में फैला था। अब विश्व पूँजीवाद 1970 के दशक से ही जिस दीर्घकालिक मन्दी को झेल रहा है, उससे वह वस्तुत: कभी उबर पाया ही नहीं। पूँजीवाद का यह संकट 'पीरियॉडिक' न होकर 'स्ट्रक्चरल' (ढाँचागत) है। यह एक 'टर्मिलन' व्याधि है जो मृत्यु के साथ ही इसका पिण्ड छोड़ेगा। नवउदारवाद की आर्थिक नीतियों से किसी प्रकार के 'कीन्सियन रिट्रीट' का स्पेस लगभग न के बराबर बचा है। इन नीतियों को प्रभावी ढंग से कोई निरंकुश सत्ता ही लागू कर सकती है। यही कारण है कि आज बुर्जुआ जनवाद और नग्न निरंकुश सत्ता के बीच की विभाजक रेखाएँ धूमिल होती जा रही हैं और पूरी दुनिया में, पश्चिम से पूरब तक, अधिकांश देशों में फासीवादी आन्दोलन विभिन्न रूपों में सिर उठा रहे हैं और अपने सामाजिक आधारों का विस्तार कर रहे हैं। भारत में भी संघ परिवार 1925 से निरन्तर काम करता रहा है और समय-समय पर दंगों में तथा मज़दूर आन्दोलन विरोधी सरगर्मियों में अहम भूमिका भी निभाता रहा है, लेकिन नवउदारवाद का दौर ही वह काल रहा है जब रथयात्रा-बाबरी मस्जिद ध्वंस, गुजरात-2002 आदि अहम मुकामों से होता हुआ यह इस मुकाम तक आ पहुँचा है कि भाजपा आज सबसे बड़ी बुर्जुआ राष्ट्रीय पार्टी के रूप में केन्द्र में और देश के कई राज्यों में सत्ता सम्हालते हुए निरंकुश दमनकारी तरीके से नवउदारवादी नीतियों को लागू कर रही है और दूसरी ओर उसकी फासिस्ट गुण्डा वाहिनियाँ सड़कों पर उत्पात मचा रही हैं, धार्मिक अल्पसंख्यकों को आतंकित कर रही हैं तथा अन्धराष्ट्रवाद का उन्माद फैला रही हैं।

भाजपा सत्ता में रहे या न रहे, फासीवाद के विरुद्ध लड़ाई की योजनाबद्ध, सांगोपांग, सर्वांगीण तैयारी क्रान्तिकारी एजेण्डे पर हमेशा प्रमुख बनी रहेगी, क्योंकि फासीवाद राजनीतिक परिदृश्य पर अपनी प्रभावी उपस्थिति तबतक बनाये रखेगा, जबतक राज, समाज और उत्पादन का पूँजीवादी ढाँचा बना रहेगा। इसलिए फासीवाद विरोधी संघर्ष को हमें पूँजीवाद-साम्राज्यवाद विरोधी क्रान्तिकारी संघर्ष के एक अंग के रूप में ही देखना होगा। इसे अन्य किसी भी रूप में देखना भ्रामक होगा और आत्मघाती भी।

जनता के लिए नये विकल्प का निर्माण लिल्लीघोड़े पर सवार गत्ते की तलवारें भाँजते हुए नकली लाल सूरमा भोपालियों के बस की बात नहीं है। इसके लिए ज़रूरी है मज़दूर वर्ग की एक नयी क्रान्तिकारी पार्टी का निर्माण, देश भर में मेहनतकश जनता की समानान्तर सत्ता के रूप में क्रान्तिकारी लोकस्वराज्य पंचायतों की स्थापना और साथ ही एक नये क्रान्तिकारी ट्रेड यूनियन आन्दोलन का निर्माण। यह एक लम्बा रास्ता है, लेकिन हमारे पास यही विकल्प है! और हमें इसी को चुनना चाहिए। 70वर्ष वर्ष मौजूद पूँजीवादी जनतन्त्रा की असलियत को पहचानने के लिए काफ़ी होते हैं! 70 वर्ष नींद से जागने के लिए काफ़ी होते हैं!

पूँजीपतियों के पास दर्जनों अख़बार और टीवी चैनल हैं। मज़दूरों के पास है उनकी आवाज़ 'मज़दूर बिगुल'!
इसे हर मज़दूर के पास पहुँचाने में हमारा साथ दें।

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" - **लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।
बिगुल के लिए सहयोग भेजिये/जुटाइये।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिये।

मज़दूर बिगुल के लिए अपने कारख़ाने, दफ़्तर या बस्ती की रिपोर्टें, लेख, पत्र या सुझाव आप इन तरीक़ों से भेज सकते हैं:
डाक से भेजने का पता: **मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**
ईमेल से भेजने का पता: **bigulakhbar@gmail।com**

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमश: उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर नि:शुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिये भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं:
www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1। 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफवाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2। 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3। 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4। 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर ''कम्युनिस्टों'' और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5। 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब नहीं मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीआर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता:
मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
बैंक खाते का विवरण: Mazdoor Bigul
खाता संख्या: 0762002109003787, IFSC: PUNB0076200
पंजाब नेशनल बैंक, निशातगंज शाखा, लखनऊ

सदस्यता: वार्षिक: 70 रुपये (डाकख़र्च सहित); आजीवन: 2000 रुपये

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं:
फ़ोन: 0522-2786782, 8853093555, 9936650658
ईमेल: bigulakhbar@gmail।com
फ़ेसबुक: www।facebook।com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 8853093555
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928
ईमेल	: bigulakhbar@gmail।com
मूल्य	: एक प्रति - रु। 5/- वार्षिक - रु। 70/- (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता - रु। 2000/-

हीरो मोटोकॉर्प के संघर्षरत साथियों का संघर्ष ज़िन्दाबाद !
गुडगाँव-बवाल-धारूहेड़ा-मानेसर के ऑटोमोबाइल सेक्टर में शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठाने वालों की कड़ी में हीरो के मज़दूरों का नाम भी हुआ शामिल!

गत वर्ष के नवम्बर-दिसम्बर के महीने के बीच हीरो प्रबन्धन ने विमुद्रीकरण का बहाना कर धीरे-धीरे ठेके पर काम कर रहे मज़दूरों की छँटनी शुरू की। पहले कुछ मज़दूरों को निकाला गया और फिर एक साथ पिछले 8-10 सालों तक स्थायी प्रकृति के मुख्य उत्पादन में लगे हुए करीब 1000 ठेका मज़दूरों को काम से निकाल दिया गया। पूरे ऑटोमोबाइल सेक्टर के ठेका मज़दूरों की हालत आज एक जैसी ही है। चाहे वह होण्डा के संघर्षरत मज़दूर हो या हीरो के। पूरी गुडगाँव-बवाल-धारूहेड़ा-मानेसर की औद्योगिक पट्टी में काम करने वाले मज़दूर श्रीराम पिस्टन, बेलसोनिका, डाईकिन, होण्डा, हीरो के प्रबन्धन इसी तरह अपनी मर्ज़ी के मुताबिक़ सालों तक नियमित प्रकृति के काम पर ठेके पर मज़दूरों को रखते है और जब मज़दूर उनके शोषण और अत्याचार से तंग आकर यूनियन बनाने जैसे अपने बुनियादी संवैधानिक अधिकार की माँग करते हैं तो उन्हें काम से निकाल बाहर करते हैं। हीरो का यह प्लाण्ट 1996 में लगा था जिसमें लगभग पिछले 10 सालों से मुख्य उत्पादन पर ठेका मज़दूरों से काम करवाया जा रहा है। कम्पनी ने विमुद्रीकरण की दुहाई देते हुए करीब 1000 मज़दूरों को तो काम से बाहर निकाल ही दिया है और अब अन्दर बचे 200 ठेका मज़दूरों को भी बर्ख़ास्त करने का इरादा रखे हुए है। आई.टी.आई. पॉलीटेकनिक से प्रशिक्षण पाकर सीधे जिस फ़ैक्टरी में कई मज़दूरों ने 10 साल तक काम किया अचानक उन्हें बाहर का रास्ता दिखा दिया जाता है। इस तानाशाही के ख़िलाफ़ हीरो के मज़दूरों ने हीरो मोटोकॉर्प ठेका मज़दूर संघर्ष समिति के बैनर तले ख़ुद को गोलबन्द कर अपने हक़-अधिकारों के लिए संघर्ष का बिगुल फूँक दिया है।

निकाले गये ठेका मज़दूरों का कहना है कि जब तक उन्हें वापिस लिया जाता और उन्हें स्थायी नहीं किया जाता तब तक वो अपना संघर्ष जारी रखेंगे। 2 जनवरी 2017 को हीरो के मज़दूरों ने राजीव चौक गुडगाँव से मिनी सचिवालय तक रैली निकाली और अपनी माँगों का ज्ञापन श्रम उपायुक्त को सौंपा। डी.सी. दफ़्तर के बाहर धरना-प्रदर्शन किया गया जिसमें हीरो के समर्थन

में होण्डा, डाईकिन, बेलसोनिका आदि के मज़दूरों, ऑटोमोबाइल इण्डस्ट्री कॉण्ट्रैक्ट वर्कर्स यूनियन, बिगुल मज़दूर दस्ता के कार्यकर्ताओं ने भी शिरकत की। 3 जनवरी को सहायक श्रम आयुक्त के पास मज़दूरों व कम्पनी प्रबन्धन को त्रिपक्षीय बैठक के लिए बुलाया गया। लेकिन श्रम विभाग के अधिकारियों ने बिना मज़दूरों की मौजूदगी में पहले ही कम्पनी के नुमाइन्दो से बातचीत की और उसके बाद मज़दूरों के सामने खानापूर्ति करने के लिए बैठक की गयी जिसका कोई नतीजा नहीं निकला। ज्ञात हो कि इतने साल ठेके पर काम करने के बाद इस देश के श्रम क़ानून के मुताबिक़ श्रमिक को परमानेंट यानी स्थायी कामगार का दर्जा देना पड़ता है। विमुद्रीकरण तो केवल बहाना मात्र है असल में कम्पनी प्रबन्धन यह नहीं चाहता था कि मज़दूरों को स्थायी किया जाये क्योंकि ठेके पर काम कर रहे मज़दूरों से वो अपने मन मुताबिक़ काम ले सकते हैं और किसी भी तरह के मज़दूर आक्रोश को दबाने के लिए उन्हें तुरन्त काम से बाहर किया जा सकता है बिना किसी क़ानूनी पचड़े में पड़े। इस बात की पुष्टि इस तथ्य से भी हो जाती है कि 6 साल की अवधि से काम करने वाले मज़दूरों को नहीं निकाला गया। लेकिन प्रबन्धन के इन सब दाव-पेंचों से लड़ने के लिए हीरो के मज़दूरों ने अपनी कमर कस ली है। 3 जनवरी को श्रम विभाग के अधिकारियों के साथ बैठक असफल होने के बाद 4 जनवरी को डी.सी. कार्यालय के बाहर एक दिवसीय भूख हड़ताल का आयोजन किया गया। मज़दूरों की एक दिवसीय भूख हड़ताल के दबाव के बाद श्रम विभाग ने एक बार फिर 6 जनवरी को कम्पनी मैनेजमेण्ट और ठेका मज़दूरों को बैठक के लिए बुलाया। लेकिन इस बार भी मैनेजमेण्ट मज़दूरों की माँगों को मानने के लिए तैयार नहीं थी।

अपनी माँगों को एक बार फिर उठाते हुए हीरो के मज़दूरों ने 9 जनवरी के दिन गुडगाँव के राजीव चौक से हीरो के कम्पनी गेट तक विशाल रैली निकाली। मज़दूरों ने 9 जनवरी का दिन चुना जिस दिन जापानी अधिकारियों की मौजूदगी में कम्पनी में ऑडिट की जानी थी। इस बीच हीरो के मज़दूरों ने परचा वितरण के माध्यम से इलाक़े के बाक़ी ठेका मज़दूरों को भी उनके इस संघर्ष से जुड़ने का आह्वान दिया क्योंकि आज जो हीरो के मज़दूरों के साथ हो रहा है वो कल उनके साथ भी हो सकता है। हीरो के मज़दूरों के इस जुझारू संघर्ष के दबाव के चलते कम्पनी प्रबन्धन को एक बार फिर श्रम विभाग के अधिकारियों के सामने हीरो के निकाले गये मज़दूरों के साथ बातचीत की टेबल पर आना पड़ा। लेकिन इस मर्तबा भी कम्पनी प्रबन्धन का रुख़ अड़ियल ही रहा और मज़दूरों ने भी साफ़ कर दिया कि जब तक उनकी सारी माँगें नहीं मानी जातीं वो अपना संघर्ष जारी रखेंगे।

अपने संघर्ष को आगे बढ़ाते हुए हीरो के मज़दूरों के 16 जनवरी 2017 से मिनी सचिवालय, गुडगाँव पर अनिश्चितकालीन भूख हड़ताल की शुरुआत करने का एलान किया था लेकिन कम्पनी ने मज़दूरों के इस क़दम से घबराकर पुलिस द्वारा उनपर दबाव बनवाया कि वो भूख हड़ताल पर न बैठ पाये। पुलिस ने आनन-फ़ानन में पहले मिनी सचिवालय के सामने बैठने की दी गयी अनुमति को रद्द कर मज़दूरों को वहाँ से उठ जाने को कहा, लेकिन अपने संघर्ष को आगे बढ़ाते हुए मज़दूरों ने डी.सी. दफ़्तर के सामने बैरी वाले बाग़ में तब तक बैठने का फ़ैसला लिया है जब तक आगे की योजना तय नहीं की जाती।

ऑटोमोबाइल सेक्टर में इस तरह सालों साल ठेके पर काम करवाने और स्थायी करने का समय आते ही नौकरी से निकाल देने की प्रथा बहुत पुरानी और आम बात है। यह नीति किसी एक फ़ैक्टरी या कम्पनी तक सीमित नहीं है बल्कि पूरे सेक्टर के पोर-पोर में फैली हुई है। इसीलिए इस कुप्रथा से लड़ने के लिए आज पूरे सेक्टर के ठेका मज़दूरों को न सिर्फ़ हीरो के संघर्ष में उनका समर्थन करने के लिए आगे आना चाहिए बल्कि ख़ुद को एक स्वतन्त्र क्रान्तिकारी सेक्टरगत यूनियन के तले गोलबन्द होने की ज़रूरत है। हीरो के मज़दूर अपने संघर्ष को जीत की मंज़िल तक लेकर जाने के लिए प्रतिबद्ध हैं और उनकी जीत से पूरे सेक्टर के मज़दूरों को भी संगठित हो संघर्ष करने की उम्मीद मिलेगी। लेकिन उसके लिए ज़रूरी होगा अपनी लड़ाई को ऑटोमोबाइल सेक्टर की हर फ़ैक्टरी तक लेकर जाना क्योंकि आज जो हीरो में हो रहा है वह कल किसी और फ़ैक्टरी में दूसरे ठेका मज़दूरों के साथ होगा। सारे फ़ैक्टरी मालिक अपनी यूनियन और एसोसिएशनों में ऐसी ही मज़दूर विरोधी तरकीबों को ईजाद कर अपनी फ़ैक्टरी में लागू करते हैं उनका मुकाबला करने के लिए आज मज़दूरों को भी एकजुट होकर संघर्ष करना ज़रूरी है।

विकास के नाम पर मुम्बई में ग़रीबों की झोपड़ियाँ बनायी जा रही है निशाना

बबन ठोके

ये कहानी किसी एक शहर की, एक राज्य की या एक देश की नहीं है। हर बड़े शहर में पहले मज़दूरों से कमरतोड़ काम लिया जाता है, उन्हें यहाँ-वहाँ रहने की जगह बनाने दी जाती है। अक्सर वो जगहें इतनी ख़राब, बंजर या दलदली होती है कि मज़दूरों को उसे रहने लायक बनाने में ही सालों लग जाते हैं। जब एक बार शहर चमक जाता है, मज़दूरों की वहाँ ज़रूरत नहीं रहती तो फिर विकास का बहाना बनाकर उनकी झोपड़ियों को तोड़ दिया जाता है।

यही आजकल मुम्बई के कलीना में स्थित अम्बेडकरनगर के निवासियों के साथ हो रहा है। यहाँ लगभग 250 झोपड़ियाँ है और इनमें रहने वाले लोग यहाँ लगभग 25 साल से रह रहे हैं। ज़्यादातर लोग यहीं आसपास के घरों, ऑफ़िसों में बर्तन धोने, सफ़ाई करने, खाना बनाने जैसे मेहनत-मशक्कत वाले काम करते हैं। पिछले कई दिनों से मुम्बई महानगर पालिका द्वारा वहाँ झोपड़ी तोड़ने की कोशिशें हो रही हैं। 10 जनवरी को भी आनन-फानन में बिना कोई नोटिस दिये कुछ झोपड़ियाँ तोड़ी गयीं। इस दौरान वहाँ बिजली भी नहीं रोकी गयी जिसके परिणामस्वरूप तोड़ी जा रही झोपड़ियों में हुए शॉर्ट सर्किट से भयंकर आग लग गयी व कई झोपड़ियाँ जलकर राख हो गयी। लोगों के क़ीमती घरेलु सामान जल गये, महत्वपूर्ण क़ागज़ात जैसे बच्चों की मार्कशीट आदि भी आग की भेंट चढ़ गये।

लोगों का कहना है कि इस इलाक़े के प्रभावशाली लोग यहाँ दुकानें व मॉल बनवाना चाहते हैं जिसके लिए उनकी रहने की जगहों को निशाना बनाया जा रहा है। इसमें शिवसेना के स्थानीय नगरसेवक भी शामिल है। इलाक़े के लोगों ने अदालत में मुक़दमा भी दर्ज करवाया है जिसमें कोर्ट ने मुम्बई महानगर पालिका को आदेश दिया कि सभी प्रभावित लोगों का स्थानीय पुनर्वसन होना चाहिए व जब तक ऐसा ना हो, तब तक झोपड़ियाँ नहीं तोड़ी जानी चाहिए। पर महानगरपालिका के कर्मचारी इनका पुनर्वसन किसी दूरदराज के इलाक़े में करना चाहते हैं। पहले इसके लिए मानखुर्द का लल्लूभाई कम्पाउण्ड तय किया गया था पर बाद में लोगों के विरोध के चलते निरस्त कर दिया गया। अब पुनर्वसन चेंबुर के माहूल गाँव में करने की कोशिश हो रही है। इस इलाक़े में कई कैमिकल फ़ैक्टरियाँ हैं व साथ ही ये वर्तमान जगह से काफ़ी दूर है जिसकी वजह से लोग वहाँ जाना नहीं चाहते। लोगों का कहना है कि अगर वो किसी दूरदराज के इलाक़े में चले जायेंगे तो उनका रोज़गार छुट जायेगा व उनके सामने भुखों मरने की नौबत आ जायेगी। पर महानगर पालिका लोगों की तकलीफ़ों, आँसुओं से कहाँ पिघलने वाली है। पालिका के आकाओं को ये जगह ख़ाली चाहिए और इसके लिए वो कोई भी रास्ता अपनाने को तैयार है। पालिका के कर्मचारी बीच-बीच में आकर लोगों का सामान घर से बाहर फेंक देते है और घर तोड़ने की कोशिश करते हैं। जब लोग विरोध करते हैं तो उन्हें पुलिस का डर दिखाकर चुप करवा दिया जाता है। पुलिस वाले लोगों से गाली-गलौच करते हैं, पीटते हैं व इस तरह ये सुनिश्चित करते हैं कि किसी भी तरह ये जगह ख़ाली करवायी जा सके। स्थानीय लोग इस गुण्डागर्दी के ख़िलाफ़ एकजुट भी हो रहे हैं।

अमीरों के कारख़ानों के लिए कौड़ियों के दाम ज़मीन देने वाली सरकारें ग़रीबों से उनके रहने की कुछ गज ज़मीन छीनने के लिए जिस तरह के हथकण्डे अपनाती है वो अपने आप में इस मुनाफ़ाखोर व्यवस्था के बारे में बहुत कुछ बताता है। मुम्बई जैसे शहरों में रहने वाले ग़रीबों को अगर अपने लिए आत्मसम्मान की ज़िन्दगी हासिल करनी है तो उन्हें सिर्फ़ अपनी झोपड़ी बचाने के लिए ही नहीं बल्कि इस पूरी व्यवस्था को बदलने के बारे में सोचना होगा।

हिन्दुत्ववादी कट्टरपंथियों और पुलिस को जनवादी जनसंगठनों की एकता ने दिया मुँहतोड़ जवाब

लुधियाना में जनचेतना और क्रान्तिकारी-जनवादी विचारों पर हमले के खिलाफ़ पुलिस थाने का घेराव और ज़ोरदार प्रदर्शन

हिन्दूत्वी कट्टरपन्थियों द्वारा पंजाबी भवन, लुधियाना में स्थित प्रगतिशील व क्रान्तिकारी साहित्य के केन्द्र 'जनचेतना' के पुस्तक बिक्री केन्द्र पर 3 जनवरी को हमला किया गया। हिन्दुत्वी कट्टरपंथियों का कहना था कि जनचेतना शहीद भगतसिंह की और राधामोहन गोकुलजी आदि क्रान्तिकारी-प्रगतिशील लेखकों की किताबों के प्रचार द्वारा नौजवानों का 'ब्रेनवॉश' कर रही है। हिन्दूत्वी कट्टरपन्थियों ने जनचेतना की प्रबन्धक बिन्नी के साथ बदकलूकी की, उसको गालीयां और पुलिस की मौजूदगी में जनचेतना के पुस्तक बिक्री केन्द्र को आग लगाने और तोड़-फोड़ करने की कोशिश की।

हिन्दुत्ववादी कट्टरपंथी नौजवान भारत सभा की कार्यकर्ता शिवानी के परिजनों को साथ लेकर आए थे। शिवानी बी.एससी. के अन्तिम वर्ष की छात्रा है। जनचेतना पर उपलब्ध शहीदे-आजम भगतसिंह, कार्ल मार्क्स, लेनिन, राधामोहन गोकुलजी व अन्य क्रान्तिकारी-प्रगतिशील लेखकों की रचनाएँ, पंजाबी क्रान्तिकारी अखबार 'ललकार', मज़दूरों का क्रान्तिकारी अखबार 'मज़दूर बिगुल' आदि पढ़कर उसने क्रान्तिकारी विचारों को अपनाया है और मज़दूरों-मेहनतकशों की लूट-खसूट के मुक्ति के लिए जारी क्रान्तिकारी आन्दोलन में सक्रिय भूमिका निभा रही है। लेकिन उसके परिजन नहीं चाहते कि वो क्रान्तिकारी काम करे। उनके इस विवाद का फायदा उठाते हुए हिन्दुत्वी कट्टरपंथियों ने 'लड़की की रक्षा' का बहाना बना कर जनचेतना व क्रान्तिकारी-जनवादी विचारों को निशाना बनाया। उन्होंने शहीदे-आजम भगतसिंह की किताब 'मैं नास्तिक क्यों हूँ', राधा मोहन गोकुल की किताबों 'लौकिक मार्ग', 'ईश्वर का बहिश्कार' आदि किताबों को बहाना बना कर जनचेतना पर धार्मिक भावनाएँ भड़काने का दोष लगाते हुए धारा 295 ए के तहत केस दर्ज करने के लिए हंगामा करते हुए पुलीस पर दबाया बनाया। अन्य क्रान्तिकारियों की किताबों की बिक्री के लिए उन्होंने जनचेतना पर देश-द्रोह का केस दर्ज करने के लिए भी पुलीस पर दबाव बनाने की कोशिश की। इस घटनाक्रम ने एक बार फिर यह स्पष्ट कर दिया कि हिन्दुत्वी कट्टरपंथी जहाँ क्रान्तिकारी विचारों से खौफ खाते हैं, मज़दूर-मेहनतकशों के शत्रु हैं और साथ ही स्त्रियों की आज़ादी के भी घोर विरोधी हैं। इन्हें यह कतई गँवारा नहीं कि कोई स्त्री अपनी मर्जी से अपनी जिन्दगी की राह चुने और अगर कोई स्त्री क्रान्तिकारी बन जाए तो ये बौखला उठते हैं।

पुलीस की हिन्दुत्वी कट्टरपंथियों से मिलीभगत भी एकदम उजागर हो गई। पुलिस ने इन हमलावरों पर कार्रवाई करने की जगह जनचेतना की प्रबन्धक बिन्नी और वहाँ मौजूद टेक्सटाइल-हौज़री कामगार यूनियन के थे। पुलिस ने जनता की ताकत के सामने झुकते हुए अपनी गल्ती मानी और भरोसा दिलवाया कि बिन्नी, लखविन्दर, गुरजीत और सतबीर के खिलाफ़ किसी भी तरह की कार्रवाई नहीं की जाएगी। एक दिन पहले झुण्ड बनाकर जनचेतना पर हमला करने वाले हिन्दूत्वी कट्टरपन्थियों को भी पुलिस ने 3 जनवरी को 12 बजे बुलाया था पर उनमें से किसी ने भी थाने पहुंचने की हिम्मत नहीं दिखाई। जनता की ताकत से ये कितना डरते हैं यहाँ ये भी साफ़ हो गया।

पुलीस थाने पर प्रदर्शन के दौरान

प्रधान लखविन्दर, कारखाना मज़दूर यूनियन के नेता गुरजीत (समर) और नौजवान भारत सभा के सक्रिय सदस्य सतबीर को ही हिरासत में ले लिया था और जनचेतना की दुकान को सील कर दिया था। शाम को जन दबाव के बाद इन सब को रिहा कर दिया गया लेकिन 3 जनवरी को दोपहर 12 बजे थाने बुलाया गया था।

जनवादी विचारों और कार्यकर्ताओं पर हुए इस हमले के बाद 3 जनवरी को लुधियाना के विभिन्न क्रान्तिकारी-जनवादी संगठनों के बुलावे पर सैंकड़ों मज़दूर, नौजवान, विद्यार्थी, जनवादी कार्यकर्ताओं ने पुलिस थाना डिवीज़न नम्बर 5 का घिराव करके ज़ोरदार प्रदर्शन किया। प्रदर्शनकारियों में अधिकतर मज़दूर जनसंगठनों ने माँग की कि जनचेतना पर हमला करने वाले हमलावरों को गिरफ्तार किया जाए और उनका साथ देने वाले पुलिस अधिकारियों के खिलाफ सख्त कार्रवाई की जाए। हिन्दूत्वी कट्टरपन्थी संगठनों द्वारा शहर का माहौल खराब करने का सख्त नोटिस लेते हुए माँग की गई कि धर्म के आधार पर लोगों को बाँटने-लड़ाने वाले संगठनों पर पाबन्दी लगाई जाए और इसके दोषी व्यक्तियों को सख्त सज़ाएँ दी जाएँ। जनचेतना की प्रबन्धक द्वारा दी गई शिकायत पर तुरन्त कार्यवाई करने की माँग की गई। जन एकता आगे झुकते हुए पुलिस ने जनचेतना की चाबीयाँ प्रबन्धकों को तुरन्त सौंप दी। थाने के घेराव के बाद जनचेतना, पंजाबी भवन तक पैदल मार्च किया गया और जोशीले नारों के साथ जनचेतना का ताला खोला गया। वक्ताओं ने कहा कि जनचेतना पर हुआ हमला पूरे क्रान्तिकारी-जनवादी आन्दोलन पर हमला है। क्रान्तिकारी-जनवादी किताबों व कार्यकर्ताओं को निशाना बनाना विचारों को वयक्त करने की आज़ादी और जनवादी हकों पर हमला है।

प्रदर्शन को जनचेतना, लुधियाना की प्रबन्धक बिन्नी, टेक्सटाइल-हौज़री कामगार यूनियन के अध्यक्ष लखविन्दर, नौजवान भारत सभा, पंजाब के संयोजक कुलविन्दर, इंकलाबी केन्द्र पंजाब के नेता सुखदेव भूंदड़ी, पंजाब स्टूडेंटस यूनियन के नेता कर्मजीत कोटकपुरा, डैमोक्रेटिक लायरज़ ऐसोसीएशन के आगू हरप्रीत ज़ीरख, कारखाना मज़दूर यूनियन के आगू राजविन्दर, डैमोक्रटिक इम्पलाइज़ फ्रण्ट के नेता रमनजीत, तर्कशील सुसाइटी पंजाब के नेता सतीश सचदेवा, मोल्डर एन्ड स्टील वर्कर्ज़ यूनियन के अध्यक्ष विजय नारायण, लोक एकता संगठन के अध्यक्ष गल्लर चौहान आदि ने संबोधित किया।

– बिगुल संवाददाता

बलोचिस्तान के साथ हमदर्दी के पीछे छुपे अन्ध राष्ट्रवाद के इरादे

में लगाया गया है और अब इस नीति द्वारा ही सीरिया युद्ध में अमेरिका द्वारा असद विरोधी सीरियाई विद्रोहियों को हथियार, पैसा, ट्रेनिंग देकर मदद की जा रही है। इस नीति पर चलकर भारत भी पाकिस्तान के विरुद्ध एक युद्ध थोप रहा है जिसका परिणामस्वरूप अनेकों बेगुनाह आम लोगों का ख़ून बहेगा। असल में भारत और पाकिस्तान दोनों इसी नीति पर चल रहे हैं जिसके साथ कश्मीर, बलोचिस्तान, गिलगिट जैसे अशान्त इलाक़ों के बिना बाक़ी हिस्से के लोग भी प्रभावित हो रहे हैं।

भारत और कश्मीरी लोगों की आत्मनिर्णय का वादा पूरा किये जाने की माँग और बलोचिस्तानी लोगों की आज़ादी की माँगें हक़ की माँगें हैं जिनका समर्थन किया जाना चाहिए। पर इस समर्थन का तरीक़ा वह नहीं है जिस तरह भारत बलोचिस्तान के लड़ाकों या पाकिस्तान कश्मीर के बीच के अलगाववादी का कर रहा है। यह मदद इन इलाक़ों के मसले को हल करने की जगह और उलझा रही है जिसके परिणामस्वरूप हज़ारों आम लोगों की जान जा रही है और करोड़ों की ज़िन्दगी बर्बाद हो रही है। अगर दोनों देशों का मक़सद सचमुच ही लोगों की मदद करना होता तो दोनों देश अपने क़ब्ज़े के इलाक़े के लोगों की मदद करने और उनके हक़ देने और शान्ति के लिए योग्य क़दम उठाते।

पूरे मसले से एक बात तो स्पष्ट है कि भारत और पाकिस्तान दोनों देश अन्ध राष्ट्रवाद और दूसरे के विरुद्ध नफ़रत को भड़काकर दो कामों के लिए इस्तेमाल कर रहे हैं। पहला, दोनों की ओर से अपने देश में आज़ादी के लिए लड़ रहे राष्ट्रों पर किये जा रहे जुल्म पर पर्दा डालने के लिए। दूसरा, एक-दूसरे के अन्दर हालात तनावपूर्ण बनाने और ख़ूनी लड़ाइयाँ और युद्ध भड़काने के लिए। इस सब का भारत और पाकिस्तान दोनों देशों के आम मेहनतकश लोगों को ही नुक़सान हो रहा है, दोनों देशों के हुक्मरान वर्गों को फ़ायदा हो रहा है। इसके साथ दोनों देशों के हुक्मरान अपने ज़ुर्मों को दूसरे देश के सिर मड़कर ना सिर्फ़ अपने आप को बेकसूर साबित करने की कोशिश कर रहे हैं बल्कि दोनों देशों के श्रमिक लोगों के बीच नफ़रत की दीवारें भी बना रहे हैं। इस मामले में भारत और पाकिस्तान के हुक्मरान एक हैं। इससे लड़ने के लिए भारत और पाकिस्तान के लोगों के बीच अन्धे, खोखले राष्ट्रवाद की पोल खोलना बेहद ज़रूरी है और उनको राष्ट्रीय एकता की जगह वर्गीय एकता के आधार पर एकजुट किये जाने की ज़रूरत है।

नये साल के ठीक पहले झारखण्ड की कोयला खदान में दर्दनाक हादसा
मुनाफ़े की अन्धी हवस ने एक बार फ़रि ली खनन मज़दूरों की जान

- पराग

गुज़रे 29 दिसम्बर को जब देश के प्रमुख टीवी चैनलों पर नोटबन्दी की मियाद ख़त्म होने की या फिर नये साल पर आयोजित होनी वाली पार्टियों की चर्चा थी, शाम साढ़े सात बजे झारखण्ड के गोड्डा ज़िले की लालमटिया ओपन कास्ट माइंस के पहाड़िया बोरिया साइट पर ज़मीन धँसने से वहाँ काम कर रहे खनन मज़दूर और खनन मशीनें लाखों मीट्रिक टन कोयले के मलबे के नीचे दब गये। अगले दो दिनों तक मलबा निकालने का काम चला जिसके बाद बाद भी कोई मज़दूर जीवित नहीं पाया गया। हालाँकि ईसीएल (ईस्टर्न कोलफ़ील्ड्स लिमिटेड), जिसके तहत यह खदान आती है, ने मृतकों की कुल संख्या की घोषणा नहीं की, लेकिन वहाँ काम कर रहे मज़दूरों के अनुसार घटना के समय खदान में क़रीब 70 मज़दूर कार्यरत थे और लगभग 40 खनन मशीनें लगी हुई थीं। ग़ौरतलब है कि मज़दूरों को खान के लिए खोदी गयी ज़मीन पर दरार पड़ने से ज़मीन धँसने की आशंका पहले से ही थी और उन्होंने इस बाबत प्रबन्धन को सूचित भी किया था, लेकिन अधिकारियों ने उसे नज़रअन्दाज़ करते हुए काम जारी रखने को कहा था और वही हुआ जिसका मज़दूरों को डर था। इस मुनाफ़ा केन्द्रित समाज में जहाँ ज़्यादा से ज़्यादा उत्पादन करके बेहिसाब मुनाफ़ा कमाने का जुनून होता है, मज़दूरों की शिकायतों को यूँ ही नज़रअन्दाज़ कर दिया जाता है और उसकी जान की क़ीमत को दो कौड़ी का आँका जाता है। मज़दूरों की अपार जनसंख्या में अगर कुछ मज़दूर दुर्घटना में जान गँवा भी देते हैं, तो पूँजीपतियों और ठेकेदारों को क्या फ़र्क पड़ता है! उनके लिए तो मुनाफ़ा ही सर्वोपरि है!

लालमटिया ओपन कास्ट माइंस ईसीएल (ईस्टर्न कोलफ़ील्ड्स लिमिटेड) के अन्तर्गत आती है जोकि कोल इण्डिया लिमिटेड की सहायक कम्पनियों में से एक है। इस खदान में खनन के काम को महालक्ष्मी नामक निजी कम्पनी को ठेके पर दिया गया है। मज़दूरों की सुरक्षा के सम्बन्ध में निजी कम्पनियाँ हमेशा ही लापरवाही बरतती रही हैं। उनकी कोशिश यही रहती है कि लागत को कम से कम किया जाये ताकि मुनाफ़े को बढ़ाया जा सके। इस सनक के चलते ये ठेकेदार मज़दूरों का जमकर शोषण करते हैं। मज़दूरों के स्वास्थ्य और सुरक्षा पर होने वाले ख़र्च, जैसे कार्यक्षेत्र में नयी तकनीक का प्रयोग या उन्हें सुरक्षित वातावरण में काम करने के लिए होने वाले तमाम ख़र्चों, को ये कम से कम करते हैं और मज़दूरों को ऐसे इलाक़े में काम करने के लिए मजबूर करते हैं जहाँ दुर्घटना की सम्भावना होती है। लालमटिया की हृदयविदारक दुर्घटना खनन के इतिहास में कोई पहली दुर्घटना नहीं है। अकेले 2016 में ही कोयले और अन्य खदानों में इस तरह की दुर्घटना से मरने वाले मज़दूरों की संख्या 65 थी। आँकड़ों के अनुसार पिछले साल हर तीन दिन में खदानों में एक गम्भीर दुर्घटना रिपोर्ट की गयी। लिखित प्रमाणों के हवाले से देखा जाये तो 2009 से 2013 के बीच में भारत में 752 खदान दुर्घटनाएँ रिपोर्ट की गयीं।

ग़ौरतलब है कि 1973 में कोयला खदान (राष्ट्रीयकरण) अधिनियम के तहत सभी कोयला खदानों का राष्ट्रीयकरण इस वजह से किया गया था क्योंकि निजी क्षेत्र के खनन के कार्यों में भागीदारी से मज़दूरों की सुरक्षा के इन्तज़ाम ठीक नहीं रहते थे, और इस कारण मज़दूरों की कार्यस्थल पर मौतें एक बड़ा राजनीतिक मुद्दा बन गयी थी। परन्तु समय के साथ देखने में आया कि राष्ट्रीय कोयला कम्पनियाँ भी मज़दूरों की सुरक्षा के लिए कोई ख़ास पुख्ता इन्तज़ाम नहीं कर पायीं और अब तो कोल इण्डिया लिमिटेड और उसकी सहायक कम्पनियाँ जैसे ईस्ट इण्डिया कोल फ़ील्ड्स भी मुनाफ़े की चूहादौड़ में शामिल होकर खनन के कामों को ठेके पर देती है जिसके चलते खदानों में काम करने वाला मज़दूर वर्ग गोल चक्कर में घूमकर उसी जगह वापस आ खड़ा हुआ है, जहाँ उसकी सुरक्षा को कोई अहमियत नहीं दी जाती।

आउटसोर्सिंग/सबकॉन्ट्रैक्टिंग/ठेकेदारी उस प्रक्रिया का अंग है जिसके तहत किसी संस्थान का काम बाहरी एजेंसियों या कम्पनियों को दे दिया जाता है। यह तरीक़ा दुनिया भर में बड़ी मालिक कम्पनियों द्वारा अपनाया जाता है ताकि मज़दूरों पर होने वाले ख़र्च को कम किया जा सके और मज़दूरों की ज़िन्दगी की पूरी ज़िम्मेदारी कम्पनी की न होकर ठेकेदार की हो और इस प्रकार अधिक से अधिक मुनाफ़ा कमाया जा सके। मुनाफ़े की अन्धी होड़ में ठेकेदार मज़दूरों को केवल उतनी ही मज़दूरी देते हैं जिससे वो जीवित रहकर अगले दिन फिर से मज़दूरी करने के लिए हाज़िर हो सकें और उनके स्वास्थ्य और सुरक्षा को पूरी तरह नज़रअन्दाज़ करते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था में पूँजीपति वर्ग द्वारा मज़दूर के श्रम के शोषण के चलते मज़दूरों के बीच यूनियन बनाके अपने हक़ों की माँग उठाने का ख़तरा भी बड़े मालिकों को सताता रहता है। आउटसोर्सिंग अथवा ठेकेदारी के कारण मज़दूरों से बड़ी कम्पनी का सीधा कोई सम्पर्क नहीं रह जाता और मज़दूर ठेकेदार के पास काम करने वाला असंगठित मज़दूर बन जाता है। आउटसोर्सिंग नीति के चलते मालिकों और ठेकेदारों को मज़दूरों का शोषण करने की बेरोकटोक छूट मिल जाती है क्योंकि ठेकेदार की निजी कम्पनी असंगठित मज़दूरों को एक मामूली सी मज़दूरी के सिवाय और कोई सुविधा नहीं मुहैया कराती और अगर उसे यूनियन बनाने की भनक लग जाये या कोई अपने हक़ के लिए आवाज़ उठाये तो उन असंगठित मज़दूरों के ख़िलाफ़ सीधे हायर एण्ड फ़ायर नीति (जब चाहो रखो, जब चाहो निकाल दो) का प्रयोग करके उन्हें चलता कर दिया जाता है। दुनिया भर में पूँजीपतियों ने यूनियन न बनने देने या उसकी ताक़त को निष्प्रभावी कर देने के लिए ही आउटसोर्सिंग को एक सुनियोजित नीति के रूप में अपनाया है। पिछले ढाई दशकों में नव-उदारवादी आर्थिक नीतियों के तहत आउटसोर्सिंग और ठेकेदारी जैसे तरीक़े अपनाने से संगठित/यूनियनकृत मज़दूरों की संख्या कम होती रही है तथा असंगठित मज़दूरों की संख्या बढ़ती रही है। इन असंगठित मज़दूरों के लिए कोई सेवाशर्तें नहीं होती हैं, श्रम कानून भी नहीं लागू होते और सामाजिक सुरक्षा का छल जो सरकारें करती रहती हैं वो भी अब धीरे-धीरे ख़त्म किया जा रहा है। ठेके पर रखे गये मज़दूरों को समान काम के लिए समान वेतन तक नहीं दिया जाता है और कई मज़दूरों को न्यूनतम मज़दूरी तक नहीं दी जाती। ठेके पर रखे जाने वाले कर्मचारियों को 40 साल की उम्र में नौकरी से हटा दिया जाता है और उन्हें बेकार का आदमी घोषित कर दिया जाता है ताकि उन्हें कहीं और काम पर नहीं रखा जा सके।

स्पष्ट है कि लालमटिया जैसे हादसों का लगातार घटित होना इस मुनाफ़े पर टिकी हुई व्यवस्था की ही नेमत है, जिसमें मुनाफ़े के आगे इंसान की जान की कोई क़ीमत नहीं होती। पूँजीवादी व्यवस्था में मज़दूरों को उत्पादन के क्षेत्र में मात्र एक कलपुर्जा समझा जाता है। एकाध पुर्जा ख़राब हो जाने से उसे तुरन्त बदल दिया जाता है। एक मज़दूर मरता है तो अगले ही दिन उसकी जगह लेने दूसरा मज़दूर, जो बेरोज़गारी की मार झेल रहा होता है, हाज़िर हो जाता है। हादसों के बाद प्रशासन और सरकारों की ओर से मुआवज़े की घोषणा की जाती है और सुरक्षा को लेकर कुछ दिखावटी फ़ैसले किये जाते हैं लेकिन चूँकि मुनाफ़ा कमाने का लक्ष्य सर्वोपरि बना रहता है इसलिए ऐसे हादसों की सम्भावना भी बनी रहती है। निश्चित रूप से इस व्यवस्था के दायरे के भीतर मज़दूरों के कार्यस्थल पर सुरक्षा सम्बन्धी माँगों को पुरज़ोर तरीक़े से उठाया जाना चाहिए। लेकिन मज़दूरों को यह भ्रम भी नहीं पालना चाहिए कि ऐसी कुछ माँगों के पूरा होने मात्र से भविष्य में लालमटिया जैसे दर्दनाक हादसे रुक जायेंगे। मुनाफ़े पर टिकी हुई इस व्यवस्था को उखाड़कर ही ऐसे हादसों पर प्रभावी लगाम लगायी जा सकती है। जो मज़दूर ज़मीन के भीतर से कोयला निकालने के लिए अपनी जान जोख़िम में डालकर 300 फ़ीट गहरी खान खोदकर बेहद ख़तरनाक परिस्थितियों में दिन-रात काम कर सकते हैं, वे मानवता पर बोझ बन चुकी इस बर्बर पूँजीवादी व्यवस्था की क़ब्र खोदकर उसे मौत की नींद भी सुला सकते हैं। ज़रूरत इस बात की है कि ज़मीन के भीतर काम करने वाले खनन मज़दूरों और ज़मीन के ऊपर काम करने वाले औद्योगिक व कृषि मज़दूरों के बीच वर्गीय आधार पर जुझारू एकजुटता स्थापित हो।

बिल गेट्स की चैरिटी
आम लोगों का स्वास्थ्य ख़राब करके कमाई करने का एक और तरीक़ा

ख़ुद को मानवता की भलाई का "मसीहा" कहलाने वाले मिस्टर गेट्स ने काफ़ी लम्बे समय से एक फ़ाउण्डेशन बनाई हुई है जिसका मक़सद है "दुनिया के ग़रीब लोगों तक स्वास्थ्य सेवाएँ लेकर जाना, ग़रीब बच्चों का टीकाकरण करना"। बिल एण्ड मिलिण्डा गेट्स फ़ाउण्डेशन, जो कि बिल गेट्स की 28 बिलीयन डॉलर की चैरिटी के साथ चलती है, या यूँ कह लें कि लोगों की मेहनत की लूटी गयी कमाई से, मुनाफ़ा कमाने के लिए, बिल एण्ड मिलिण्डा गेट्स फ़ाउण्डेशन में फिर निवेश की गयी आमदन के साथ चलती है। इस फ़ाउण्डेशन द्वारा दुनिया के अलग-अलग देशों जैसे भारत, अफ़्रीका, कोलम्बिया आदि में मानवता की भलाई का शोर पूरे जोश से मचाया जा रहा है।

पर सवाल यह है कि असल में दुनिया के सबसे अमीर आदमी को सचमुच आम लोगों, भूख से, बिना इलाज के मर रहे लोगों के साथ कोई सरोकार नहीं है?

इस सवाल का सही उत्तर है, नहीं। यह फ़ाउण्डेशन बहुत बड़े स्तर पर लोगों के स्वास्थ्य के साथ खिलवाड़ करके पैसे कमाने का तरीक़ा है।

इस फ़ाउण्डेशन द्वारा समय-समय पर नये-नये टीके (vaccine) अलग-अलग बीमारियों के लिए, प्राइवेट कम्पनियों से बनवाये जाते हैं जैसे कि पोलियो के लिए (oral vaccine) काली खाँसी के लिए, निमोनिया के लिए, बच्चेदानी के कैंसर के लिए आदि और फिर इसका इस्तेमाल करने के लिए प्रचार चलाया जाता है। इसके लिए देश के नामी चेहरों को पैसे देकर ख़रीदा जाता है और तथाकथित मानवता की भलाई का डंका हर टीवी चैनल पर पीटा जाता है। पोलियो बूँदों के प्रचार के दौरान अमिताभ बच्चन ने अपनी अदाकारी के जोहर दिखाते हुए इस मुहिम को सहयोग किया। बिल गेट्स की इस मानवता की भलाई वाली भावना का दूसरा हिस्सा भी है, जो छुपा लिया जाता है। यह दूसरा हिस्सा सिद्ध करता है कि यह भलाई आम लोगों के लिए असल में कैसे दुख और मौत लेकर आती है।

वर्ष 2011 में भारत में पोलियो मुहिम चलायी गयी। इस दौरान 47 हज़ार 500 बच्चे पोलियो के टीकाकरण के बाद, मौत जैसी ज़िन्दगी जीने के लिए मज़बूर हो गये। इस घटना के बाद भी टीके बनाने के तरीक़ों की ओर ध्यान देने की बजाय इसे मामूली घटना कहकर यह मुहिम उसी तरह चलती रही।

एक और रिपोर्ट के अनुसार यह बात सामने आयी है कि सरवाइकल कैंसर वैकसिन के टेस्ट के लिए 30,000 भारतीय लड़कियों का इस्तेमाल किया गया। हिउमन पैपीलोमा वाइरस (HPV) वैकसिन जो कि सरवाइकल कैंसर के लिए (औरतों की बच्चेदानी का कैंसर) है। इस वैकसिन को तीन हिस्सों में दिया जाता है।

वैकसिन के टेस्ट के लिए या किसी भी तरह की दवाई के टेस्ट के लिए प्रयोगशाला में अलग-अलग तरह के जानवर इस्तेमाल किये जाते हैं, जैसे चूहा, खरगोश, गिनी पिग्ज़ आदि, वहीं भारत में एचपीवी वैकसिन सीधे-सीधे लड़कियों पर इस्तेमाल की गयी।

वर्ष 2009 में आन्ध्र प्रदेश के खंसम ज़िले की 16,000 लड़कियाँ (आयु 9 से 15 वर्ष) और वडोदरा और गुजरात में 14,000 लड़कियों पर इस वैकसिन का प्रयोग किया गया। यह वैकसिन एक प्राइवेट कम्पनी (Glaxo Smith Kline) द्वारा बनायी गयी थी।

इस प्रयोग के बाद यह बात सामने आयी कि वैकसिन लगने के बाद 7 लड़कियों की मौत हो गयी। उसी समय के दौरान ही उत्तरी कोलम्बिया में कुछ लड़कियों को अस्पताल में भर्ती करना पड़ा, उन लड़कियों को भी एचपीवी वैकसिन दी गयी थी।

मार्च 2010 में एक ग़ैर-सरकारी संस्था द्वारा आन्ध्र प्रदेश में तथ्य इकट्ठे किये गये तो यह बात सामने आयी कि 100 लड़कियाँ उस वैकसिन के बुरे प्रभाव के साथ जूझ रही हैं, जैसे कि पेट दर्द, सिर दर्द, माहवारी के दौरान ज़्यादा रक्तस्राव, दिमाग़ के काम करने की क्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ना आदि।

यह सब कुछ यहीं पर ख़त्म नहीं हो जाता, यह तो मानवीय ज़िन्दगी को जानवरों से भी बदत्तर समझना है।

बिल एण्ड मिलिण्डा गेट्स फ़ाउण्डेशन ने एक अमेरिकन एनजीओ 'प्रोग्राम फ़ॉर ऐप्रोप्रीऐट टेक्नॉलोजी इन हैल्थ' (PATH) को एक प्रयोग करने में आर्थिक सहायता दी। इस प्रयोग का मकसद यह देखना है कि एचपीवी वैकसिन कैसे-कैसे औरतों के शरीर पर असर डालती है।

वर्ष 2009 में विश्व स्वास्थ्य संस्था की ओर से ऐलान किया गया था कि हिउमन पैपीलोमा वाइरस के कारण 70% सम्भावना है कि बच्चेदानी का कैंसर हो सकता है। इसके बावजूद एचपीवी वैकसिन का इस्तेमाल किया जाता है।

यह आज के लूट पर आधारित समाज का सच है कि मुनाफ़ा कमाने के लिए आम लोगों के स्वास्थ्य को, ज़िन्दगियों को कीड़े-मकौड़ों की तरह मसल दिया जाता है। आज जहाँ एक तरफ़ मनुष्य का इस्तेमाल करके विज्ञान ने इतनी उन्नति की, वहीं, विज्ञान कुछ अमीर लोगों की झोलियाँ भरने के लिए एक साधन बनकर रह गया है। जब तक लुटेरी व्यवस्था मौजूद रहेगी, लूट करने वाले अमीर घराने, मानवीय स्रोतों पर क़ब्ज़ा करके बैठे रहेंगे तब तक मानवीयता का पतन इसी तरह होता रहेगा। आज ज़रूरत है कि इस लुटेरी व्यवस्था को जड़ से उखाड़ा जाये और बेहतर समाज बनाने के लिए संगठित हुआ जाये।

- रविन्दर

क्या आपको अपने मोबाइल फ़ोन में से किसी बच्चे की आहों की आवाज़ आ रही है

गुरप्रीत

इस समय विश्व की मध्यवर्गीय आबादी में एप्पल कम्पनी का नया आई फ़ोन 7 चर्चा का विषय बना हुआ है। आई फ़ोन का नया मॉडल या अन्य मोबाइल, लैपटॉप, कारें आदि जैसी उपभोगी वस्तुओं के नये मॉडल आने और उन्हें ख़रीदने की दौड़ शुरू होना, उन्हें स्टेटस का प्रतीक बनाना - विश्व भर की मध्यवर्गीय आबादी को नीरस ज़िन्दगी के लिए एक खुशनुमा, दिलचस्प व्यस्तता और बातचीत करने के लिए नये विषय मिल जाते हैं। दूसरों के मोबाइल के नये मॉडल देखकर जलना या फिर पुराने मॉडल देखकर खुश होना, सैल्फ़ियाँ लेना और स्क्रीन पर उँगलियाँ मारते हुए घण्टों तक सोशल मीडिया, इण्टरनेट में डूबे रहना इसके साथ जुड़े पल उनकी ज़िन्दगी के अन्य खुशी भरे पलों में से एक होते हैं। मौजूदा पूँजीवादी युग में फैले अलगाव ने एक तरफ़ मनुष्य को अन्य मनुष्यों से दूर कर दिया जिसके चलते लोग इंसानों की जगह वस्तुओं, साधनों में से खुशियाँ खोजते हैं, दूसरी तरफ़ इस अलगाव ने जानने की मानवीय इच्छा को इतना दबा दिया है, हमें इन वस्तुओं के शोरूम की शीशों के पीछे चमकने से लेकर उनको ख़रीदने/इस्तेमाल करने तक का तो पता होता है लेकिन यह नहीं पता होता कि शोरूम के शीशों के पीछे तक पहुँचने के लिए ये वस्तुएँ कैसा सफ़र तय करती हैं।

अगर आपको मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था की कार्य-प्रणाली के बारे में पता है तो आप जानते होंगे कि ये महँगी और चमक-दमक वाली वस्तुएँ उन मज़दूरों के हाथों से बनकर निकलती हैं जो इन्हें ख़रीदना तो दूर बल्कि इन्हें बनाने की मेहनत के बदले दो वक़्त की पेट भर रोटी भी नहीं खा सकते। लाखों लोगों की उम्र वक़्त से पहले ही ढल जाती है, हड्डियाँ गल जाती हैं, शरीर अनेकों बीमारियों का शिकार हो जाता है और कई बे-वक़्ती मौत मारे जाते हैं। एप्पल के आई फ़ोन या और मोबाइल फ़ोन की बात करें तो शायद आपको चीन के उन कारख़ानों के बारे में पता हो जहाँ हज़ारों मज़दूर 12-14 घण्टे काम करते हैं, दड़बेनुमा कमरों में रहते हैं। उन्हें बेहतर ज़िन्दगी नहीं मिलती बल्कि कई तरह की शारीरिक और मानसिक बीमारियों का शिकार हो जाते हैं और उनमें से अनेकों कारख़ानों और होस्टलों की इमारतों से कूदकर ख़ुदकुशी कर लेते हैं। एशिया और अफ़्रीका के घरों में औरतें पीस रेट पर रोज़ाना 7-8 घण्टे काम करके मोबाइल के चार्जरों के लिए तारें बाँधने का काम करती हैं और इस काम के बदले उन्हें एक वक़्त की रोटी भी मुश्किल से मिलती होती है। भारत में ऐसे काम के बदले औसतन सिर्फ़ 30-40 रुपये रोज़ाना कमाई होती है।

चलिए, आपको आपके मोबाइल फ़ोन, लैपटॉप के शोरूम के शीशों के पीछे पहुँचने से पहले की एक और दासताँ सुनाते हैं। इन यन्त्रों में लीथीयम बैटरियाँ इस्तेमाल की जाती हैं और ये बैटरियाँ बनाने के लिए कोबाल्ट धातु का इस्तेमाल किया जाता है। इस कोबाल्ट का आधे से भी ज़्यादा हिस्सा डेमोक्रेटिक रिपब्लिक ऑफ़ कौंगो देश से आता है। इतने महँगे यन्त्रों के लिए सबसे अधिक कोबाल्ट बेचने वाला यह देश 2014 में मानवीय विकास सूचकांक में आख़री से दूसरे नम्बर पर था।

यह कोबाल्ट खदानों में से निकलता है और इन खदानों में कुछ बड़ी कम्पनियों की खदानें हैं और अनेकों छोटी निजी खदानें हैं। ये छोटी खदानें कौंगो के माइनिंग कोड एण्ड रेगूलेशन के अन्तर्गत नहीं आती, इसलिए न तो इन श्रमिकों को कोई संवैधानिक अधिकार हासिल हैं, ऊपर से ख़तरा भी बहुत ज़्यादा है। इन सैकड़ों फुट गहरी और कुछ फुट चौड़ी दमघोटू खदानों में श्रमिक अपनी जान की बाज़ी लगाकर उतरते हैं और घण्टों तक काम करके कोबाल्ट की कच्ची धातु निकालते हैं। जान का ख़तरा उठाकर इन खदानों में काम करने वालों को इतनी भी कमाई नहीं होती कि वे ग़रीबी से पीछा छुड़ा सकें।

इन खदानों में हवा निकासी का कोई प्रबन्ध नहीं होता, मज़दूरों के पहनने के लिए दस्ताने, गैस-मास्क आदि जैसे सुरक्षा साधन भी नहीं होते। कोबाल्ट की धूल में घण्टों तक साँस लेना फेफड़ों के लिए हानिकारक होता है और यहाँ साँस की बीमारियाँ आम हैं। इन मामलों में इन खदानों की विश्व की अन्य अनेकों कोयला और अन्य खनिज निकालने वाली खदानों के साथ साझापन है। लेकिन एक मामले में ये खदानें अन्य खदानों से भी बदतर हैं।

कौंगो की इन खदानों में 40,000 बच्चे काम करते हैं। इन बच्चों को दमघोटू खदानों में उच्च तापमान, वर्षा, तूफान में भी काम करना पड़ता है। इनमें 7-8 वर्ष के बच्चे भी हैं जिन्हें ख़ुद से अधिक भार उठाना पड़ता है। इन बच्चों में से अधिकतर की तेज़ी से काम न करने के लिए पिटाई भी होती है। एक 9 वर्ष के मज़दूर को अब से ही पीठ की समस्या शुरू हो गयी है। एक 14 वर्षीय बच्चा बताता है कि उसने 24 घण्टों की शिफ़्ट में भी खदान में काम किया है। एक 15 वर्ष का बच्चा बताता है कि इस काम की सारी कमाई सिर्फ़ खाने में ही ख़र्च हो जाती है। ये बच्चे मुश्किल से 2 डॉलर प्रतिदिन कमाते हैं। तीन बच्चों की जुबानी कही यह कहानी हज़ारों बच्चों की दासताँ है।

हर वर्ष सैकड़ों मज़दूर इन खदानों में हादसों के दौरान मारे जाते हैं, कभी आग लगने के कारण और कभी खदान के खिसकने के कारण। हज़ारों बच्चे और मज़दूर अनेकों खदानों के खिसकने के कारण दबकर मारे जा चुके हैं और उनकी लाशें भी बाहर नहीं निकाली जा सकीं। धरती की छाती चीरकर उन्होंने जो खदानें बनायीं वे ही उनकी क़ब्रें बन गयीं। इन खदानों में न बच्चों की सुरक्षा के लिए उचित प्रबन्ध हैं और न ही कोई मुआवज़ा है।

कौंगो में ग़रीबी और बेरोज़गारी इतनी ज़्यादा है कि मज़दूरों के बच्चों को ये काम मज़बूरी में करना पड़ता है और उन्हें दूसरा कोई काम कम ही मिल पाता है। यह काम छोड़ने का मतलब होगा भूखे मरना। ऐसी हालत में इन बच्चों के लिए स्कूल जाकर पढ़ना तो बस एक सपना है। कुछ बच्चों, नौजवानों के हिस्से अगर पढ़ाई आती भी है तो एक समय उनको ग़रीबी के कारण पढ़ाई छोड़नी पड़ती है। वे 1-2 वर्ष खदानों में काम करके फ़ीस जोड़ कर आगे पढ़ने के लिए खदानों की ओर मुँह करते हैं लेकिन उनमें से बहुत थोड़े ही दुबारा पढ़ाई शुरू कर पाते हैं।

इन खदानों से कोबाल्ट की कच्ची धातु निकालकर बड़ी-बड़ी कार्पोरेशनों को बेचा जाता है जो आगे संशोधन करके कोबाल्ट को मोबाइल, लैपटॉप आदि बनाने वाली कोबाल्ट एप्पल, सोनी, सामसुंग, माइक्रोसोफ़्ट जैसी 16 के क़रीब कम्पनियों को बेचते हैं। कोबाल्ट बेचने वाली कार्पोरेशनें और इसे ख़रीदकर अपने उत्पाद बनाने वाली कम्पनियाँ हर वर्ष अरबों की कमाई करती हैं, लेकिन धरती की छाती से कोबाल्ट निकालने वाले बच्चों के हिस्से आता है घण्टों तक काम करने पर भी ग़रीबी भरा बचपन, हडिड्यों और जोड़ों की बीमारियाँ, वक़्त से पहले उम्र का ढलना और अनेकों मामलों में हमेशा के लिए इन खदानों में दब जाना।

जब कुछ संस्थाओं द्वारा इन कम्पनियों के साथ उनके लिए कोबाल्ट पैदा करने वाले इन मज़दूरों और बच्चों के बारे में बात की गयी तो कइयों ने इसके बारे में कोई जानकारी होने से इनकार किया और कइयों ने कहा कि उनके लिए यह बता पाना सम्भव ही नहीं है कि हमारा कोबाल्ट कौंगो से आता है या नहीं। असल में यह पता करना कोई मुश्किल बात नहीं है, अनेकों संस्थाओं ने इसके बारे में जाँच-पड़ताल करके कौंगो का कोबाल्ट इन 16 कम्पनियों तक पहुँचने की पुष्टि की है। असल मामला इसकी ज़िम्मेदारी लेने और मज़दूरों को अच्छी सहूलियतें और वेतन देने का है जिसके लिए कोई भी कम्पनी तैयार नहीं है। क्योंकि ये सभी कम्पनियाँ मुनाफ़े के लिए काम करती हैं और इन बच्चों और मज़दूरों की ओर ध्यान देने का मतलब होगा अपने मुनाफ़े में से कटौती करना जिसके लिए ये कम्पनियाँ बिल्कुल भी तैयार नहीं हैं।

अगर आपके दिल में कोई मानवीय संवेदना है तो अपनी दुख-दर्द भरी ज़िन्दगी और मौत द्वारा आपके लिए मोबाइल, लैपटॉप आदि जैसी सहूलियतें तैयार करने वाले ये बच्चे आपसे अपनी बेहतर ज़िन्दगी की भी उम्मीद रखते हैं। इनकी ज़िन्दगी इससे बेहतर नहीं होने वाली कि आप मोबाइल, लैपटॉप त्याग दो और न ही इससे कि ऐसे बच्चों के लिए किसी एनजीओ को चन्द रुपये देकर ख़ुद को तसल्ली देते रहो। इसके लिए ज़रूरी है कि लूट और मुनाफ़े पर टिकी पूरी पूँजीवादी व्यवस्था को ही बदला जाये जो मुनाफ़े के लिए करोड़ों बच्चों की बलि लेता है, एक तरफ़ करोड़ों लोगों पर घण्टों तक श्रम का बोझ लादता है और दूसरी तरफ़ मुट्ठी भर मालिक वर्ग को अरबों की दौलत के ढेर पर बिठाता है। अगली बार अपने मोबाइल को ध्यान से कान लगाकर सुनो, इसमें से इन खदानों में अपनी ज़िन्दगी गँवा रहे बच्चों की आहों की आवाज़ आ रही है जो आपको यह मुनाफ़ाखोर व्यवस्था बदल देने के लिए ललकार रही है।

'लेनिन कथा' से दो अंश

(पेज 15 से आगे)

"अच्छा, तो यह बात है! लो, तुम भी लो!" पागल की तरह चिल्लाते हुए मात्यूशेन्को ने अफ़सर को भी मौत के घाट उतार दिया।

सभी जहाज़ी गुस्से से बौखला उठे थे। उन्होंने कुछ और अफ़सरों को भी, ख़ास तौर से जिनसे उन्हें बहुत नफ़रत थी, गोली से उड़ा दिया और समुद्र में पफेंक दिया। जल्लाद कमाण्डर जान बचाने के लिए छिप गया। किन्तु जहाज़ियों ने उसे भी खोजकर समुद्रार्पण कर दिया।

युद्धपोत 'पोत्योम्किन' आज़ाद था। पर आगे क्या हो? जहाज़ का कमाण्डर कौन बने? जहाज़ आगे कहाँ जाये?

अफानासी मात्यूशेन्को के नेतृत्व में एक कमीशन नियुक्त किया गया और यह फैसला हुआ कि ओदेस्सा की ओर बढ़ा जाये। मस्तूल पर अब ज़ारशाही के झण्डे की जगह अपना, क्रान्तिकारी झण्डा फहरा रहा था। यह 14 जून, 1905 की घटना है।

लाल झण्डा पफहराये हुए युद्धपोत 'पोत्योम्किन' पूरी रफ़्तार से ओदेस्सा की ओर बढ़ने लगा। लाल झण्डा हवा में लहरा रहा था, प्रकाशस्तम्भ की तरह चमक रहा था, स्वाधीनता संघर्ष के लिए जहाज़ियों का आह्वान और मार्गदर्शन कर रहा था।

जहाज़ ने जब ओदेस्सा में लंगर डाला, तो रात हो चुकी थी। उसकी सर्चलाइटों ने अँधेरे को टटोला। चकाचौंध करने वाले उजाले ने काले सागर और नगर की नीरव सड़कों का चक्कर लगाया। तोपें ओदेस्सा की ओर तनी हुई थीं। वहाँ मज़दूरों की हड़तालें जारी थीं। ऐसे में काश 'पोत्योम्किन' भी तुरन्त मज़दूरों की सहायता में गोलाबारी शुरू कर दे! अभिजात लोगों और ऊँचे अधिकारियों के महलों को मिट्टी में मिला दे! लेकिन जहाज़ियों का नेता, बोल्शेविक वाकूलिन्चूक तो अफ़सर की गोली से घायल होकर मर गया था। और शेष सभी इतने जवान और अनुभवहीन थे!

इस बीच पीटर्सबर्ग से ज़ार ने सेवास्तोपोल आदेश भेज दिये थे :

"बग़ावत तुरन्त दबा दी जाये!"

सेवास्तोपोल के सभी जहाज़ युद्धपोत 'पोत्योम्किन' की बग़ावत को दबाने के लिए ओदेस्सा की ओर चल पड़े।

चौथे दिन सुबह 'पोत्योम्किन' के सन्तरियों को क्षितिज पर मस्तूल और चिमनियाँ दिखायी दीं। ये 'पोत्योम्किन' को घेरे में लेने के लिए आ रहे तेरह जहाज़ थे।

एक के मुक़ाबले में तेरह!

'पोत्योम्किन' पर अलार्म बज गया। जहाज़ी अपनी-अपनी जगह पर लड़ाई के लिए तैयार हो गये।

युद्धपोत चुपचाप बेड़े की ओर बढ़ने लगा। मात्यूशेन्को के आदेश पर सिगनलमैन ने सन्देश भेजा : फ्'पोत्योम्किन' की कमाण्ड सभी जहाज़ों के तोपचियों से गोलियाँ न चलाने का अनुरोध करती है!य्

और अचानक समुद्र 'पोत्योम्किन' को घेरने के लिए भेजे गये सभी तेरह जहाज़ों के जहाज़ियों के फ्हुर्रा!य् के उद्घोष से गूँज उठा। एक जहाज़ से सन्देश भेजा गया : "हम तुम्हारे साथ हैं!" और वह चिड़िया की-सी सहजता से 'पोत्योम्किन' की ओर बढ़ चला।

समुद्र का विस्तार एक बार फिर फ्हुर्रा!य् की आवाज़ों से गूँज गया।

टुकड़ी का कमाण्डर डर गया कि कहीं सबके सब बग़ावत न कर बैठें। उसने तत्काल टुकड़ी को सेवास्तोपोल वापस लौटने का आदेश दिया।

अब लाल झण्डा फहराते हुए दो बाग़ी जहाज़ अशान्त ओदेस्सा के तटवर्ती समुद्र में खड़े थे। खड़े थे...मगर ओदेस्सा पर ग़फ़ब्ज़ा नहीं कर रहे थे। उन्हें किसी चीज़ का इन्तज़ार था। वे ख़ुद नहीं तय कर पा रहे थे कि क्या करें।

तब तक 'पोत्योम्किन' पर ईंधन और मीठे पानी का भण्डार ख़त्म होने को आ गया था। शीघ्र ही इंजन रुक जायेगा। जहाज़ी उत्तेजित थे। वे जानते थे कि कुछ न कुछ करना चाहिए। पर कैसे?

दूसरे जहाज़ का हौसला अल्पकालीन सिद्ध हुआ। उसके मस्तूल का लाल झण्डा धीरे-धीरे नीचे उतरने लगा।

'पोत्योम्किन' ने लंगर उठाया और खुले समुद्र में निकल पड़ा।

इस बीच जेनेवा से लेनिन का दूत 'पोत्योम्किन' के जहाज़ियों की सहायतार्थ रूस के लिए रवाना हो चुका था। लेनिन ने जहाज़ियों को दृढ़तापूर्वक और तेज़ी से काम करने और नगर को अपने ग़फ़ब्ज़े में लेने की सलाह दी थी।

लेनिन का दूत ओदेस्सा पहुँचा, तो उसे लाल झण्डा कहीं नहीं दिखायी दिया। लाल झण्डा दूर समुद्र में चला गया था।

युद्धपोत पर मीठा पानी बहुत कम रह गया था। तुरन्त कोई उपाय करना ज़रूरी था। 'पोत्योम्किन' ने फ़फेओदोसिया में पानी लेने की कोशिश की, मगर स्थानीय अधिकारियों ने इन्कार कर दिया :

"हम बाग़ियों को पानी नहीं देंगे!"

अजेय और बेघर लाल झण्डा फिर समुद्र में निकल पड़ा। जहाज़ी चिन्तित थे, उनका आत्मविश्वास जवाब दे रहा था। क्या किया जाये?

ग्यारहवें दिन युद्धपोत 'पोत्योम्किन' ने एक रूमानियाई बन्दरगाह में लंगर डाला। यहाँ सबकुछ पराया था – तट, घर, बत्तियाँ, सबकुछ...

'पोत्योम्किन' के जहाज़ियों में और ताक़त नहीं रह गयी थी। उनके पास न पानी था, न कोयला और न रोटी।

रूमानिया की सरकार ने कहा :

"युद्धपोत हमें दे दो, हम तुम्हें शरण देते हैं और निश्चिन्त रहो कि ज़ार के हाथ वापस नहीं सौंपेंगे।"

'पोत्योम्किन' पर जहाज़ियों की यह आख़िरी रात थी। अलविदा, स्वतन्त्र 'पोत्योम्किन'! ग्यारह दिन तक तुम्हारे कारण जनरल और अफ़सर, ज़ार और सभी सेठ थर्राते रहे। तुमने क्रान्ति का झण्डा बुलन्द किया। तुम्हारी कीर्ति अमर रहे!

मोदी मण्डली के जन-कल्याण के हवाई दावे बनाम दौलत के असमान बँटवारे में तेज़ वृद्धि
तथाकथित देश भक्तों के दावों की हवा निकालते ताज़ा आँकड़े

रणबीर

पिछले दिनों महज़ बहसबाज़ी के अड्डे संसद में हवाई दावा करते हुए भारत के वित्त मन्त्री अरुण जेटली ने कहा था कि भारत की अर्थव्यवस्था की मोदी सरकार से पहले बहुत बुरी हालत थी, कि मोदी सरकार के दौरान अर्थव्यवस्था का बहुत विकास हुआ है, कि भारत की अर्थव्यवस्था अब एक मज़बूत अर्थव्यवस्था बन गयी है। मोदी मण्डली ज़ोर-शोर से प्रचार कर रही है कि अर्थव्यवस्था की "मज़बूती" से जनता की परिस्थितियाँ सुधारी हैं। दावे ये किये जा रहे हैं कि "देश बदल रहा है, आगे बढ़ रहा है"। मोदी भक्त हर जगह यह काँव-काँव कर रहे हैं। इसमें कोई शक नहीं कि देश तो बदल ही रहा है, आगे भी बढ़ रहा है - लेकिन आख़िर क्या बदला है, देश किस तरफ़ आगे बढ़ा है? आओ देखें।

मोदी सरकार के ढाई वर्षों के दौरान भारत के पूँजीवादी प्रबन्ध के गन्दे नाले से बहुत पानी बह चुका है। बहुत कुछ हमारे सामने है। लेकिन देश किस तरफ़ बदल रहा है, किधर आगे बढ़ रहा है, देश की अर्थव्यवस्था किस ढंग से विकसित हुई है, मज़बूत हुई है इसके लिए यहाँ सिर्फ़ एक ही पहलू देख लेना काफ़ी है। प्रश्न यह है कि देश में मेहनतकश जनता की मेहनत-मशक्कत से जो धन-दौलत पैदा हो रही है उसका बँटवारा किस तरह हो रहा है। हमें देखना होगा कि अमीरी-ग़रीबी की खाई और बड़ी हुई है या घटी है। आख़िर देश का मतलब तो मज़दूर-मेहनतकश हैं, उनकी हालत में क्या फ़र्क़ पड़ा है, यह देखना होगा।

अगर हम थोड़ी-सी भी समझ रखते हैं तो अपने चारों तरफ़ समाज में लगातार बढ़ रही आर्थिक असमानता को साफ़ देख सकते हैं। आर्थिक पहलुओं के बारे में विभिन्न संस्थाएँ सर्वेक्षण करके रिपोर्टें भी जारी करती हैं जिनसे यह हक़ीक़त और भी स्पष्ट रूप में देखने में मदद मिलती है। पिछले दिनों एक अहम रिपोर्ट जारी हुई है। यह है क्रैडिट सुईस नाम की संस्था द्वारा जारी की गयी विश्व की अर्थव्यवस्था के बारे में रिपोर्ट (ग्लोबल वैल्थ रिपोर्ट)। इस रिपोर्ट में पूरे विश्व के देशों की अर्थव्यवस्था के आँकड़े हैं। इस रिपोर्ट के मुताबिक़ पूरे विश्व में अमीरी-ग़रीबी की खाई पिछले समय में और चौड़ी हुई है। इस रिपोर्ट में पेश अन्य देशों की अर्थव्यवस्था के बारे में जानकारी भी अहम है जिसके लिए अलग से लिखा जाना चाहिए। फ़िलहाल, यहाँ हम इस रिपोर्ट में पेश भारत के बारे में जानकारी पर नज़र डालेंगे और देखेंगे कि मोदी सरकार ने देश किस तरफ़ आगे बढ़ाया है और बदल कर कैसा बनाया है।

उपरोक्त रिपोर्ट में यह खुलासा किया गया है कि इस समय सिर्फ़ एक प्रतिशत भारतीयों का देश की 58.4 दौलत पर क़ब्ज़ा है। यानी भारत की 99 प्रतिशत आबादी के पास शेष 41.6 प्रतिशत दौलत है। लेकिन इस 99 प्रतिशत में भी बेहद अमीर आबादी शामिल है। और आगे आँकड़े देखने पर "भारत महान" के "मज़बूत अर्थव्यवस्था" की ओर भी भयानक तस्वीर सामने आती है। सबसे अमीर 10 प्रतिशत आबादी का भारत की 80.7 प्रतिशत दौलत पर क़ब्ज़ा है। अर्थात शेष 90 प्रतिशत के पास सिर्फ़ 19.3 प्रतिशत दौलत है। निचली 50 प्रतिशत आबादी के पास तो देश की कुल दौलत का सिर्फ़ 1 प्रतिशत ही है।

इन आँकड़ों से यह स्पष्ट है कि हमारे समाज में इस समय मेहनतकश लोगों के ख़ून-पसीने से पैदा हुई दौलत पर जोकों ने कितने बड़े स्तर पर क़ब्ज़ा किया हुआ है।

अब मोदी भक्त प्रश्न उठायेंगे कि आर्थिक असमानता तो मोदी सरकार से पहले ही मौजूद है। वे कहेंगे कि ये तो कांग्रेस की सरकारों की ही काली करतूत है। बिल्कुल दुरुस्त, आर्थिक असमानता तो पहले से ही मौजूद है। कांग्रेस की या इसकी अगवाई करने वाली सरकारों ने देश के धन्नासेठों की ही सेवा की है। साथ ही, मोदी सरकार से पहले की भाजपा की अगवाई करने वाली केन्द्र सरकारों ने भी तो यही कुछ किया है। कांग्रेस तथा मौजूदा सरकार द्वारा सभी विरोधी पार्टीयों की केन्द्र तथा राज्य सरकारों ने पूरे जी-जान से पूँजीपति वर्ग की सेवा की है। यह भी मेहनतकश जनता को पूँजीपति वर्ग के लिए ही लूटने और पीटने का काम करती रही हैं। क्रेडिट सुईस की रिपोर्ट बताती है कि 1 प्रतिशत आबादी की दौलत सन् 2010 से 2014 तक 40.3 प्रतिशत से बढ़ कर 49 प्रतिशत हो गयी है। इसलिए मोदी भक्तों से हम कहना चाहेंगे कि हम समाज में दौलत के असमान बँटवारे के लिए सिर्फ़ मोदी सरकार को ही दोषी नहीं ठहराते। लेकिन ये भी हक़ीक़त है कि पूँजीपति वर्ग की सेवा करने में, आर्थिक असमानता बढ़ाने में मौजूदा मोदी सरकार जैसा कोई नहीं। उपरोक्त रिपोर्ट में पेश आँकड़े यह भी अच्छी तरह से स्पष्ट करते हैं। देखो ये आँकड़े क्या कहते हैं -

रिपोर्ट बताती है कि सन् 2014 से 2016 तक ऊपर की 1 प्रतिशत आबादी के पास भारत में कुल दौलत में हिस्सा 49 प्रतिशत से 58.4 प्रतिशत हो गया है। इस तरह ऊपर की 10 प्रतिशत आबादी की दौलत में भी वृद्धि हुई है। रिपोर्ट मुताबिक़ 80.7 प्रतिशत दौलत की मालिक यह ऊपर की 10 प्रतिशत आबादी सन् 2010 में 68.8 प्रतिशत की मालिक थी। यह आबादी भी मोदी सरकार के समय में और भी तेज़ी से माला-माल हुई है।

मोदी मण्डली भ्रष्टाचार के ख़िलाफ़ लड़ने के बड़े-बड़े दावे कर रही है। काले धन के ख़ात्मे के बहाने नोटबन्दी कर दी गयी है। उपरोक्त आँकड़े मोदी मण्डली के दावों की हवा निकाल रहे हैं। साबित कर रहे हैं कि मोदी द्वारा जन-कल्याण, भ्रष्टाचार के ख़ात्मे, आदि के नाम पर की जाने वाली कार्यवाइयाँ कितनी बड़ी डरामेबाज़ियाँ हैं। यह डरामा-मण्डली पर्दे के पीछे असल में जो कुछ कर रही है उसका मक़सद देशी-विदेशी पूँजीपतियों को फ़ायदा पहुँचाना है। मोदी सरकार से पहले की सरकारें भी तेज़ी और सख्ती से पूँजीपति वर्ग के हित की नीतियाँ (जैसे कि श्रम क़ानूनों में मज़दूर विरोधी और पूँजीपति वर्ग के पक्ष में सुधार, किसानों से ज़मीनें छीनकर पूँजीपतियों को सौंपने, जनता से सरकारी सुविधाएँ छीनने, जनता पर करों का बोझ बढ़ाने आदि अनेक नीतियाँ) लागू करना चाहती हैं। लेकिन अनेकों राजनीतिक मज़बूरियों के चलते वे ये नीतियाँ मनचाहे ढंग से लागू नहीं कर पा रही थीं। लेकिन पूँजीपतियों से हासिल हज़ारों करोड़ रुपये ख़र्च करके, जनता को धर्म-जाति आदि के नाम पर बाँटकर, समाज में बड़े स्तर पर साम्प्रदायिक नफ़रत का ज़हर फैलाकर भाजपा ने केन्द्र में एक मज़बूत सरकार बनायी है। ऐसी सरकार के ज़रिये पूँजीपति वर्ग की धन-दौलत में तेज़ वृद्धि होनी ही है।

स्पष्ट है कि मोदी राज में देश किस ढंग से बदला है, किस तरफ़ आगे बढ़ा है। बड़े स्तर पर आर्थिक असमानता, जनता की बदहाली और जोंकों की खुशहाली में वृद्धि – यही है मोदी मण्डली सहित पूँजीपति वर्ग के सभी सेवादार के लिए आर्थिक विकास और एक "मज़बूत अर्थव्यवस्था"। ऐसी "मज़बूत अर्थव्यवस्था" का जितनी जल्दी विनाश हो उतना ही अच्छा।

मध्य प्रदेश - नवजात बच्चों का नर्क

रजिस्ट्रार जनरल ऑफ़ इण्डिया की एसआरएस रिपोर्ट के मुताबिक़ भारत में सबसे ज़्यादा बच्चों की मौत भाजपा शासित मध्य प्रदेश में होती है। इस रिपोर्ट के मुताबिक़ मध्य प्रदेश में पैदा होने वाले 1000 बच्चों में से 52 जन्म की पहली वर्षगाँठ भी नहीं मना पाते। इस तरह मध्य प्रदेश की बाल मृत्यु दर 52 है जो सर्वेक्षण किये गये राज्यों में से सबसे ज़्यादा है। ग्रामीण क्षेत्रों की हालत और भी चिन्ताजनक है जहाँ यह आँकड़ा 57 पर जा पहुँचता है (58 लड़कियाँ और 55 लड़के)। शहरी क्षेत्रों में जहाँ 1000 नवजात लड़कियों में 35 की मौत 1 वर्ष के अन्दर हो जाती है, वहीं ग्रामीण क्षेत्रों में यह आँकड़ा 58 है। गाँवों के 70% अस्पतालों में डॉक्टरों की कमी है और इलाज का कोई उचित प्रबन्ध नहीं। पाँच वर्ष की उम्र वाले 1000 बच्चों में से 65 की मौत हो जाती है, जिनमें से 70 लड़कियाँ हैं और 60 लड़के। पाँच वर्ष से कम उम्र के इन बच्चों में से 45 फ़ीसदी की मौत कुपोषण के कारण होती है, यानी यह सीधा-सीधा ग़रीबी के कारण है।

इस तरह हम देख रहे हैं कि किस तरह यह पूँजीवादी व्यवस्था बहुत सारे बच्चों से उनकी ज़िन्दगियाँ छीन रही है। यह सीधे-सीधे एक ऐसे प्रबन्ध द्वारा किये गये क़त्ल हैं जहाँ एक तरफ़ तो दौलत के अम्बार लग रहे हैं और दूसरी तरफ़ बहुसंख्यक लोग इस हद तक ग़रीबी से ग्रस्त हैं कि अपने बच्चों को अच्छा भोजन, अच्छी शिक्षा, अच्छा दवा-इलाज तक नहीं दे पाते। ये सारी बुराइयाँ एक ऐसी व्यवस्था में ही ख़त्म हो सकती हैं जहाँ उत्पादन मुनाफ़े की ख़ातिर नहीं बल्कि जनता की ज़रूरतों के अनुसार होगा। बहुत सारे बच्चे कुपोषण का ही शिकार होकर मर जाते हैं जबकि हर वर्ष लाखों टन अनाज गोदामों में पड़ा-पड़ा सड़ जाता है या शराब की कम्पनियों को दे दिया जाता है, इस तरह जनता की साधारण ज़रूरतों में लगने वाली दवाइयों में से भी ये निजी कम्पनियाँ ढेर सारा मुनाफ़ा कमाती हैं और जनता को लूटती हैं। इसलिए इस पूरी व्यवस्था को आज बदलना पड़ेगा और इस व्यवस्था के ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ने में प्रथम भूमिका आज के नौजवानों के सिर पर ही है।

– सिकन्दर

सेना में उठती आवाज़ें

(पेज 16 से आगे)

के लिए भारत की हत्यारी सरकार ने अपने ही लोगों के ख़िलाफ़ भारत की सेना को मैदान में उतारा हुआ है।

इंसाफ़ और न्याय की इज़्ज़त करने वाले हर भारतीय का यह फ़र्ज़ बनता है कि वे यह देखें कि भारत की सेना के सिपाही की वर्दी के पीछे मज़दूर-किसान के घर से आने वाला एक ऐसा नौजवान खड़ा है जिसका इस्तेमाल उसी के वर्ग भाइयों के प्रतिरोध को कुचलने के लिए किया जाता है और बदले में वह अपने अफ़सरों के हाथों स्वयं वर्ग-उत्पीड़न का शिकार भी बनता है। आवाज़ उठाने वाले सैनिकों को देशभक्ति और देशद्रोही के चश्मे से देखना बन्द कर दिया जाना चाहिए और उनकी हर जायज़ जनवादी माँग का समर्थन करते हुए भी उनकी सेना के हर जनविरोधी दमनकारी कार्यवाही का डटकर पर्दाफ़ाश और विरोध किया जाना चाहिए।

नोटबन्दी...

(पेज 9 से आगे)

करने की चर्चा पहले ही शुरू हो चुकी है अर्थात ग़रीबों पर लगाने वाले अप्रत्यक्ष कर की वसूली बढ़ाकर अमीरों को और टैक्स छूट! ज़बरदस्ती, डण्डे के बल पर सबको हाँक कर कैशलेस करने की मोदी की व्यग्रता का कारण बिल्कुल साफ़ है।

महँगाई दर में कुछ कमी होने का तात्कालिक कारण भी स्पष्ट है। ऐसा पूँजीपति तबक़े की मुनाफ़ाखोरी पर रोक से नहीं हुआ है बल्कि इसके दो कारण हैं - एक ओर कृषि उपज के दामों में भारी गिरावट, दूसरी ओर बेरोज़गारी और आमदनी की कमी से बाज़ार माँग में भारी कमी। महँगाई कम होने से जनता को फ़ायदा तभी हो सकता है जब उसकी आमदनी कम न होते हुए मुनाफ़ाखोरी पर रोक लगे। लेकिन अगर वह कुछ न ख़रीद पाने की स्थिति में पहुँच जाये जिसकी वजह से महँगाई की दर में कमी हो तो इससे उसे क्या फ़ायदा? अक्सर कुछ समय बाद इसका नतीजा होता है, सप्लाई में गिरावट और फिर से दामों में भारी वृद्धि जो फिर से दोहरी चोट होगी।

निष्कर्ष यह कि पहले से ही वंचित शोषित मेहनतकश जनता को ही नोटबन्दी के इस क़दम का सबसे ज़्यादा बोझ उठाना पड़ रहा है जबकि असली काले धन वाले अपनी कमाई को न सिर्फ़ खपाने में सफल हुए हैं बल्कि उनको अगर कहीं कुछ नुक़सान हो भी गया हो तो उसके मुआवज़े का भी इन्तज़ाम सरकार इस बजट में कर देगी - कॉर्पोरेट और इनकम टैक्स में कमी करके- जिसका फ़ायदा सिर्फ़ शीर्ष 5% लोगों को होगा जबकि उसकी भरपाई के लिए बढ़ाये जाने वाले अप्रत्यक्ष करों का बोझ बहुसंख्य मेहनतकश जनता को ही उठाना पड़ेगा। इसलिए ये लोग नोटबन्दी को ग़लत नहीं कहते, क्योंकि इन तबक़ों को तो असल में ही 'थोड़ी असुविधा' के बाद इससे फ़ायदा होने वाला है।

हिन्दुत्ववादी फासिस्टों और रंग-बिरंगे लुटेरे चुनावी मदारियों के बीच जनता के पास चुनने के लिए क्या है?

(पेज 1 से आगे)

उम्मीदें हैं लेकिन उन्हें मुज़फ़्फ़रनगर दंगों के समय सपा की भूमिका, दंगों के बाद राहत शिविरों पर चले बुलडोज़र और सैफ़ई में करोड़ों के खर्च से हुए अश्लील जश्न, जेलों में बन्द निर्दोष मुस्लिम युवकों के साथ सपा सरकार की वादाख़िलाफ़ी और प्रदेश भर में जनान्दोलनों पर बर्बर सरकारी दमन को ज़रूर याद कर लेना चाहिए।

बहुजन समाज पार्टी जो कुछ समय पहले तक अपने दलित वोटबैंक के साथ एकमुश्त मुस्लिम वोटों को जोड़कर जीत के प्रति काफ़ी आश्वस्त नज़र आ रही थी, सपा के इस नये पैंतरे से थोड़ा परेशान है क्योंकि मुस्लिम वोटों के बँटने से उसका गणित गड़बड़ा सकता है। भाजपा को रोकने के लिए जो लोग महाभ्रष्ट "बहनजी" के जीत की उम्मीदें लगाये हुए हैं उन्हें यह भी याद रखना चाहिए कि भाजपा के साथ बसपा उत्तर प्रदेश में तीन बार सरकार बना चुकी है। 2002 के गुजरात दंगों के बाद नरेन्द्र मोदी को फौरन क्लीनचिट देकर भाजपा के समर्थन में प्रचार करने वाली भी मायावती ही थीं। बसपा के शासन में 'कानून-व्यवस्था' ठीक होने की बातें करने वालों को यह भी याद रखना चाहिए कि मायावती के पिछले शासन में दलितों पर बर्बर अत्याचारों के नये रिकॉर्ड बने थे। सैकड़ों निर्दोष मुस्लिम नौजवानों को आंतकवाद के नाम पर झूठे मुकदमों में भी उन्हीं के शासन में फँसाया गया था।

जहाँ तक संसदीय वामपंथियों का सवाल है, तो साम्प्रदायिक फासीवाद को रोकने के नाम पर वे हर प्रकार के सिद्धान्तहीन मोर्चे बनाने के लिए हरदम तैयार रहते रहे हैं। मगर एक तो इस बार कोई उन्हें घास नहीं डाल रहा, दूसरे अपने कैडर और समर्थकों की बढ़ती नाराज़गी दूर करने के लिए उन्हें इस बार स्वतंत्र वाम विकल्प की हास्यास्पद नौटंकी करनी पड़ रही है। पिछले ढाई साल के दौरान सरकारी नीतियों या भाजपा की साम्प्रदायिक हरकतों के विरुद्ध कोई जुझारू आन्दोलन खड़ा करना तो देर, जुझारू और व्यापक प्रचार अभियान तक न चला पाये ये पिलपिली बहादुर संसदीय वाम दलों का "महागठबन्धन" बनाकर उत्तर प्रदेश चुनाव में 155 उम्मीदवार खड़े करने जा रहे हैं। वैसे इनकी सबसे बड़ी चुनौती सभी उम्मीदवारों की ज़मानत ज़ब्त होने से बचाने की होगी।

पंजाब में शिरोमणि अकाली दल-भाजपा के महाभ्रष्ट और अत्याचारी कुशासन से जनता में भारी नाराज़गी है। भाजपा शुरू में तो अकालियों को किनारे करके महाराष्ट्र की तरह अलग चुनाव लड़ने के मंसूबे बाँध रही थी, लेकिन फिर उसकी हिम्मत जवाब दे गयी। हालाँकि इसी इरादे से पंजाब में आर.एस.एस. ने हिन्दू आबादी में अपनी सक्रियता बहुत अधिक बढ़ा दी थी। तमाम डेरों के धर्मगुरुओं की मदद से भाजपा ग़ैर-जाट सिख आबादी को साथ लेने की फ़िराक में थी और दलित सिखों के बीच कांग्रेस के आधार को खिसकाने के लिए जुगत भिड़ा रही थी। पिछले वर्ष संघ प्रमुख मोहन भागवत ने पंजाब के कई चक्कर काटे। पंजाब के कई शहरों में इनके "शिक्षा शिविर" हुए और जालन्धर व मलेरकोटला में संघ ने हथियारबन्द "रूट मार्च" किये और बरनाला, जैतो आदि शहरों में संघ के काडरों ने पिस्तौलें, बन्दूकें लहराते हुए मार्च आयोजित किये। लेकिन पंजाब में संघ की फिरकापरस्त राजनीति सिरे नहीं चढ़ पा रही। कुछ जगहों पर तो दंगा कराने की कोशिश करने पहुँचे संघियों को लोगों ने पीटकर खदेड़ दिया। सत्तारूढ़ गठबन्धन से जनता की नाराज़गी का फ़ायदा पिछले लोकसभा चुनाव में आम आदमी पार्टी को मिला था। पंजाब में बारी-बारी से राज करते आ रहे कांग्रेसियों और अकालियों से अलग किसी "साफ-सुथरे" विकल्प को आज़माने के चक्कर में विधानसभा चुनाव में भी आप को व्यापक समर्थन मिलता लग रहा था। लेकिन जैसे-जैसे चुनाव नज़दीक आता जा रहा है, 'आप' का नशा कम होता दिखायी दे रहा है। जगह-जगह आप ने पुराने कांग्रेसियों को या फिर कई बदनाम चेहरों को टिकट दिये हैं। टिकट पाने वालों में 'आम आदमी' तो गिनती के ही हैं, ज़्यादातर धनी किसान, व्यापारी, ठेकेदार आदि ही हैं। एक बड़ी आबादी को अब लगने लगा है कि जब 'आप' और दूसरी चुनावी पार्टियों में कोई फ़र्क ही नहीं है तो क्यों न कांग्रेस को ही फिर आज़माया जाये।

उत्तराखण्ड बनने के बाद से वहाँ बारी-बारी से भाजपा और कांग्रेस का शासन रहा है और विभिन्न छोटी क्षेत्रीय पार्टियाँ सत्ता की मलाई चाटने के लिए बेशर्मी से कभी इसका कभी उसका दामन थमती रही हैं। इस बार भी स्थिति कुछ अलग नहीं होने वाली है। हरीश रावत सरकार की नाकामियों और कांग्रेस के पिछले मुख्यमंत्री रहे विजय बहुगुणा सहित कई कांग्रेसियों को फोड़ लेने से भाजपा कुछ उत्साहित है लेकिन नोटबन्दी से जनता की नाराज़गी ने यहाँ भी उसे डरा रखा है। हालत यह है कि ब्राह्मण वोटरों को लुभाने के चक्कर में भाजपा ने कांग्रेस और सपा से परित्यक्त 91 साल के नारायणदत्त तिवारी को शामिल करा लिया है।

गोवा में भाजपा और कांगेस के बीच मुख्य मुकाबला है, हालाँकि 'आप' यहाँ भी "नये विकल्प" का अपना सिक्का चलाने की कोशिश कर रही है। गोवा के वोटरों को लुभाने के लिए भाजपा गोमांस खाने को उनका अधिकार बताने से भी नहीं चूकी है लेकिन पिछले पाँच साल के भाजपाई शासन से लोगों की नाराज़गी बहुत अधिक है। ऊपर से आरएसएस का एक बड़ा हिस्सा पिछले दिनों बग़ावत करके संघ से अलग हो चुका है। कांग्रेसी तो भ्रष्टाचार के कीर्तिमान क़ायम करने में सबसे आगे ख़ैर हैं ही। तमाम छोटे राज्यों की तरह गोवा में भी प्राकृतिक संसाधनों की अन्धी लूट और भ्रष्टाचार में सभी पार्टियाँ आपस में होड़ करती रहती हैं।

मणिपुर में नगा और कुकी समुदायों के बीच भयंकर कलहपूर्ण संघर्ष के चलते महीनों से जारी आर्थिक नाकाबन्दी के बीच हो रहे चुनाव में भाजपा एक बार फिर वही ख़तरनाक खेल खेल रही है जिसके दम पर वह पिछले दिनों असम में चुनावी जीत हासिल कर चुकी है। असम में अलग-अलग समुदायों के स्थानीय निवासियों के बीच नफ़रत फैलाकर जीतने के बाद भाजपा मणिपुर में भी इस आग को हवा दे रही है और इस खेल में कांग्रेस अपनी गोटियाँ खेल रही है। सेना के दमन के विरोध में और सशस्त्र बल विशेष अधिकार कानून (आफ्सपा) हटाने की माँग को लेकर 16 साल तक भूख हड़ताल करने वाली इरोम शर्मिला भी अपनी पार्टी बनाकर चुनाव मैदान में उतरी हैं लेकिन अभी वहाँ कांग्रेस का ही पलड़ा भारी लग रहा है।

कुल मिलाकर, तस्वीर बिल्कुल साफ़ है। इस देश में पिछले 70 साल से चल रहे लोकतंत्र के खेल में हर बार की तरह इस बार भी, एक चीज़ पहले से तय है – तमाम चुनावी मदारियों में से जीते चाहे कोई भी, हारेगी फिर जनता ही!

कुछ लोग इन चुनावों को फासीवाद के विरुद्ध जंग के तौर पर पेश करने की कोशिश करते हुए तर्क दे रहे हैं कि अन्य चुनावों के मुकाबले ये चुनाव विशेष महत्व रखते हैं क्योंकि इनमें भाजपा की हार से मोदी सरकार कमज़ोर होगी और 2019 में उसकी सत्ता से बेदखली का रास्ता साफ हो जायेगा। बेशक, आगामी विधानसभा चुनावों में हारने से भाजपा कमज़ोर होगी लेकिन इसे ही फासीवाद के विरुद्ध लड़ाई मान लेना और लुटेरों के दूसरे गिरोहों का समर्थन करने लगना जनता को उसी भ्रमजाल में उलझाये रखना है जिसमें वह आज़ादी के बाद से फँसी हुई है। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि कांग्रेस सहित तमाम अन्य दलों द्वारा लागू की गयी नवउदारवादी आर्थिक नीतियों ने ही वह ज़मीन तैयार की है जिस पर हिन्दुत्ववादी फासीवाद की विषबेल फलीफूली है। विकल्प केवल एक ही है, इस अन्यायी पूँजीवादी व्यवस्था और इसके नकली लोकतंत्र को उखाड़ फेंककर एक ऐसी व्यवस्था क़ायम करना जिसमें उत्पादन, राजकाज और समाज के पूरे ढाँचे पर वास्तव में उत्पादन करने वाले वर्गों का कब्ज़ा हो। यह एक लम्बी लड़ाई है और इसके लिए ज़रूरी है कि नकली लोकतंत्र की असलियत को हर मेहनतकश को समझा दिया जाये।

दूसरे, यह भी समझ लेने की ज़रूरत है कि बुर्जुआ संसदीय प्रणाली में अल्पमत-बहुमत का खेल कितना भ्रामक होता है और इस विधि से प्राप्त जनादेश वस्तुत: बहुसंख्यक जनसमुदाय की वास्तविक आकांक्षाओं को सटीकता के साथ अभिव्यक्ति कर ही नहीं सकता। अक्सर संसदीय वाम दलों के प्रवक्ता, नेता और विश्लेषक तथा कुछ सामाजिक जनवादी मिजाज के वाम बुद्धिजीवी बिहार और कुछ अन्य चुनावों में भाजपा की हार या उसके वोटों में गिरावट के हवाले देकर खुद को तसल्ली देने की कोशिश कर रहे हैं कि भाजपाई लहर अब उतार पर है। इस तसल्ली के साथ ऐसी कथित वाम धारा के लोग आँखों में घूरती सच्चाई से मुँह मोड़कर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में जनता को यह सन्देश देने लगते हैं कि अगले लोकसभा चुनावों में भाजपा पराजित हो जायेगी और इस प्रकार हिन्दुत्ववादी फासीवाद को धूल चटा दी जायेगी। नोटबन्दी के बाद से ऐसी आवाज़ें और तेज़ हो गयी हैं जिन्हें लगता है कि मोदी ने तो "सेल्फ़ गोल" मार लिया और अब उनका काम आसान हो गया है।

किसी भी बुर्जुआ संसदीय प्रणाली के अन्तर्गत चुनाव जीतकर यदि फासिस्ट सत्ता में आते हैं तो इसका मतलब यह कत्तई नहीं होता कि बहुसंख्यक जनता उसके साथ है, लेकिन इतना तो ज़ाहिर है कि चुनावी जीत भी बताती है कि फासिस्ट उभार उठान पर है और समाज में इस धुरप्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन का आधार विस्तारित हो रहा है। अत: इस तथ्य से आँखें कत्तई नहीं मूँदी जा सकती कि भाजपा के वोट प्रतिशत में इज़ाफ़ा फासिस्ट संकट की चुनौती की गम्भीरता को रेखांकित कर रहा है। यदि 2011 और 2016 की भी तुलना करें तो असम में भाजपा के वोट प्रतिशत में 11.5 प्रतिशत से 29.5 प्रतिशत, केरल में (गठबन्धन के दलों सहित) 6.0 से 14.4 प्रतिशत, पं.बंगाल में 4.1 प्रतिशत से 10.3 प्रतिशत और तमिलनाडु में 2.2 प्रतिशत से 2.8 प्रतिशत का इजाफा हुआ है। 2011 में देश के 6 राज्यों में अकेले और 3 राज्यों में गठबन्धन बनाकर भाजपा सत्ता में आयी थी, कांग्रेस 11 राज्यों में अकेले और 2 में गठबन्धन बनाकर सत्तासीन हुई थी तथा 6 राज्यों में क्षेत्रीय दलों की व एक में वाम दलों की सरकार बनी थी। 2016 में 9 राज्यों में भाजपा अकेले और 4 में गठबन्धन के दलों के साथ सत्ता रूढ़ है, कांग्रेस 6 राज्यों में सिमट गयी है, क्षेत्रीय दलों के कब्जे में 9 राज्य हैं और दो पर संसदीय वाम काबिज है। 2017 में पंजाब, उत्तराखण्ड, उत्तर प्रदेश, मणिपुर में तथा 2018 में हिमाचल, मेघालय, कर्नाटक, और मिजोरम के विधान सभा चुनाव होने हैं। इनमें से कर्नाटक, हिमाचल और उत्तराखण्ड में भाजपा की ही सरकार बनने की अधिक सम्भावना है। पंजाब में आप पार्टी और कांग्रेस के बीच मत विभाजन के बावजूद यदि अकाली-भाजपा गठबन्धन दुबारा सत्ता में नहीं आ पाया, तो भी भाजपा के वोट प्रतिशत में बढ़ोत्तरी की सम्भावना है। असम के बाद भाजपा अब पूर्वोत्तर को लेकर दूरगामी रणनीति पर काम कर रही है, जिसमें विशेषकर हिन्दुत्व की राजनीति के साथ-साथ विभिन्न उपराष्ट्रीयताओं की पहचान राजनीति को हवा देने और उनके आपसी टकरावों का लाभ उठाने के साथ ही कांग्रेस और क्षेत्रीय दलों के स्थानीय क्षत्रपों को साथ मिला लेने की जोड़-तोड़ भी शामिल है।

कुल मिलाकर, भाजपा की चुनावी सफलताएँ और आज़ादी के बाद पहली बार सबसे बड़े राष्ट्रीय दल के रूप में उसका उभरकर सामने आना भारतीय राजनीति में संघ परिवार की हिन्दुत्ववादी फासीवादी राजनीति के प्रचण्ड उभार का एक महत्वपूर्ण संकेतक है, लेकिन चुनाव परिणामों के इस विश्लेषण से यह कत्तई नहीं समझा जाना चाहिए कि कांग्रेस और क्षेत्रीय बुर्जुआ पार्टियाँ यदि तालमेल करके चुनावों में भाजपा को शिकस्त दे दें या 2019 के आम चुनावों में जीतकर यदि कांग्रेस गठबन्धन फिर से केन्द्र में सत्तासीन हो जाये तो हिन्दुत्ववादी फासीवादी लहर को पीछे धकेल दिया जायेगा। बुर्जुआ संसदीय चुनावों में हराकर नहीं, बल्कि व्यापक मेहनतकश जन समुदाय को लामबन्द करके सड़कों पर आर-पार की लड़ाई में ही फासीवाद को निर्णायक शिकस्त दी जा सकती है। फासीवाद को निर्णायक शिकस्त देने का मतलब एक ही हो सकता है और वह है उसे नेस्तनाबूद कर देना।

भाजपा हिन्दुत्ववाद का मात्र संसदीय मोर्चा है। हिन्दुत्ववादी हर फासीवादी आन्दोलन की तरह एक धुरप्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन है। यह मुख्यत: मध्य वर्ग का सामाजिक आन्दोलन है, जिसके साथ उत्पादन प्रक्रिया से कटे हुए विमानवीकृत मज़दूर भी खड़े हैं और जिसे बड़े-छोटे पूँजीपतियों और कुलकों-फार्मरों के बहुलांश का- यानी बुर्जुआ सत्ता के सभी छोटे-बड़े हिस्सेदारों के बहुलांश का समर्थन हासिल है। इस प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन का संघ परिवार का कैडर आधारित सांगठनिक ढाँचा हरावल दस्ता है। इसका कारगर प्रतिरोध एक क्रान्तिकारी सामाजिक आन्दोलन ही कर सकता है जिस पर मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी राजनीति का वर्चस्व एक कैडर आधारित सांगठनिक ढाँचे के माध्यम से स्थापित हो। इस लड़ाई की प्रकृति का सादृश्य निरूपण यदि सामरिक संघर्ष से करें तो कहा जा सकता है कि यह छापामार युद्ध (गुरिल्ला वारफेयर) या चलायमान युद्ध (मोबाइल वारफेयर) जैसी न होकर दीर्घकालिक स्थितियों के युद्ध (पोजीशनल वारफेयर) जैसी होगी।

(पेज 2 पर जारी)

नोटबन्दी को लेकर सारे सरकारी दावे झूठे: जनता की मेहनत की कमाई पर डाका, मुट्ठीभर अमीरों को फ़ायदा पहुँचाने के लिए तमाम तरह के घपले-घोटाले उजागर

(पेज 1 से आगे)

नहीं आयेगी। नतीजा भी वही निकला है। दिसम्बर के मध्य में ही 80% नक़दी जमा हो जाने के बाद सरकार की तरफ़ से पूरी कोशिश की गयी कि जनता को अपना पैसा जमा करने से रोका जाये, फिर भी 30 दिसम्बर तक 97% नक़दी बैंकों में जमा हो गयी और किसी काली कमाई वाले को असल में कोई परेशानी नहीं हुई। बल्कि कुछ विश्लेषणों के अनुसार तो बाज़ार में जितनी नक़दी होने का रिज़र्व बैंक का अनुमान था उससे ज़्यादा जमा होने का भी अन्देशा है और माना जा रहा है कि कुछ लोगों के नाम पर तो विभिन्न तरीक़ों से इतना पैसा भी जमा हो गया जितना दरअसल उनके पास था ही नहीं। संक्षेप में समझा जाये तो इस मुहिम के दौरान अमीर काले धन वालों और बैंकिंग-वित्तीय क्षेत्र में उनके दलालों को नुक़सान के बजाय इससे और ज़्यादा कमाई करने का ही मौक़ा हासिल हुआ है।

अभी भी 30 जून तक अप्रवासी भारतीय अपने पुराने नोट जमा कर सकते हैं; साथ ही नेपाल और भूटान के लोग भी। इसके बाद भी अगर कुछ नोट जमा होने से बचे तो वो काली कमाई वाले अमीरों के नहीं होंगे बल्कि उन बेचारे, असहाय लोगों के पास होंगे जो बीमारी, अपंगता, अधिक उम्र, अशिक्षा, बैंक तक पहुँच के अभाव या किसी और मज़बूरी से इन्हें जमा नहीं करा पाये। उनमें से कुछ अगर अब रिज़र्व बैंक पर पहुँच भी रहे हैं तो उन्हें लौटा दिया जा रहा है। इस बेग़ैरत, झूठी, वादाख़िलाफ़ी करने वाली सरकार द्वारा जिसने ये वादा किया था कि 31 मार्च तक रिज़र्व बैंक के काउण्टर से नोट बदले जा सकेंगे लेकिन जो अब पूरी बेशर्मी से अपनी बात से पलट गयी है।

सरकारी उम्मीदों के ख़िलाफ़ इतने नोट जमा हो जाने की वजह ही है कि अत्याधुनिक कम्प्यूटर सिस्टम के बावजूद भी रिज़र्व बैंक व सरकार इतने दिन बाद भी यह बता पाने की स्थिति में नहीं हैं कि कितना कुल कैश बाज़ार में था, उसमें से कितना काला धन था और कितना जमा हुआ, और उसकी जगह कितने नये नोट जारी हुए। अब उनका कहना है कि दोबारा हिसाब लगाना, गिनती करना ज़रूरी है कि कुल कितने नोट जमा हुए। इस दोबारा हिसाब के काम के संयोजन के लिए वित्त मन्त्रालय के एक अफ़सर की तैनाती की गयी है रिज़र्व बैंक में। कोशिश हो रही है कि मोदी सरकार अपनी ग़लती मानने के बजाय कुछ हेर-फेर से अपने मनपसन्द आँकड़े तैयार करे जिसे इस योजना की कामयाबी के तौर पर घोषित किया जा सके।

ख़ुद शासक बीजेपी और उसके क़रीबियों की स्थिति को जानें तो यह ख़बरें तो पहले से ही आ रही थीं कि नोटबन्दी के ऐलान के ठीक पहले ही बीजेपी ने भारी संख्या में देश के विभिन्न शहरों में ज़मीनें और मकान आदि ख़रीदे थे और निर्माण कार्य शुरू किया था जिसमें उसने अपने पास इकट्ठा काले धन को खपाया था। उसी समय पर उसके विभिन्न बैंक खातों में बड़ी मात्रा में पैसा जमा कराने की ख़बर भी खातों के विवरण सहित सार्वजनिक हुई थी। इसके बाद यह भी सूचना है कि बीजेपी नेताओं द्वारा संचालित सहकारी बैंकों में भी नोटबन्दी के बाद के 3-4 दिन में ही बड़ी मात्रा में कैश जमा हुआ। हिन्दुस्तान टाइम्स के अनुसार, अहमदाबाद ज़िला सहकारी बैंक, जिसमें ख़ुद अमित शाह डाइरेक्टर है, में ही 3 दिन में 600 करोड़ रुपया जमा हुआ। इसी तरह अमरेली के ज़िला सहकारी बैंक, जिसमें गुज़रात के कृषि मन्त्री दिलीप संघानी अध्यक्ष हैं, 4 दिन में 209 करोड़ रुपया जमा हुआ जबकि पहले इसमें औसतन 1-2 करोड़ रुपया रोज़ जमा होता था।

एक ओर मोदी जी देश के लोगों से काले धन, भ्रष्टाचार की समाप्ति के लिए बलिदान करने और 50 दिन तक असुविधा झेलने को कह रहे थे, वहीं बीजेपी के नेताओं द्वारा नये नोटों के बण्डलों के फ़ोटो सोशल मीडिया में डाले जाने की ख़बर तो पहले ही थी, पर अभी 11 जनवरी के हिन्दुस्तान टाइम्स के अनुसार सीधे रिज़र्व बैंक की नोट छापने की प्रेस से ही बड़ी मात्रा में नये नोट कुछ लोगों के यहाँ घर पर पहुँचाने का धन्धा भी ज़ोरों से चालू था। जबकि दूसरी ओर करोड़ों साधारण लोग अपने काम-धन्धे रोज़गार छोड़कर कई दिनों तक दो हज़ार रुपये के लिए लाइनों में लगे हुए थे और बीमार लोग खाते में पैसा होते भी इलाज न करा पाने से जान देने तक को मजबूर थे; जिन दिहाड़ी मज़दूर या छोटे-मोटे काम जैसे रेहड़ी-पटरी दुकान वालों का काम पूरी तरह बन्द हो गया, उनके परिवारों के लिए अपना पेट भरने तक का संकट पैदा हो गया था। इस स्थिति में सत्ता के क़रीबी लोग ख़ुद तो बैंकिंग व्यवस्था में अपनी पहुँच का फ़ायदा उठाकर ख़ूब कमाई कर रहे थे वहीं बुरी तरह परेशान लोगों को ज़रा सी शिकायत पर ही देशद्रोही का तमगा भी दे रहे थे - 'वहाँ सीमा पर सैनिक जान दे रहे हैं और तुम देश के लिए लाइन में भी खड़े नहीं हो सकते?'

अगर नुक़सान इन काले धन वालों का नहीं हुआ तो फिर किसका हुआ? नुक़सान हुआ मज़दूरों का - दिहाड़ी-अस्थाई, प्रवासी, खेतिहर, असंगठित क्षेत्र के मज़दूर; नुक़सान हुआ सीमान्त-छोटे किसानों का; नुक़सान हुआ छोटे काम धन्धे करने वाले दुकानदारों, रेहड़ी-पटरी वालों का; नुक़सान हुआ निम्न मध्य वर्ग के लोगों का। अनौपचारिक अर्थव्यवस्था में काम करने वाले इन लोगों को ही नक़दी में काम करना पड़ता है क्योंकि या तो वही इनकी पूरी जमा-पूँजी है या पूरी तरह सम्पत्ति-विहीन मज़दूरों के पास वही ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा वे तुरन्त अपनी ज़रूरत के लिए उपभोग कर सकते हैं। इनके पास ही थोड़ी मात्रा में पुराने बन्द किये नोट थे जो इनकी कुल जमा-पूँजी या तुरन्त मिली मज़दूरी थे जिससे उन्हें अपना रोज़गार चलाना था या अपना और परिवार का पेट भरना था। इनके पास इन्हें फ़ौरन उपयोग में न लाने का कोई विकल्प नहीं था और थोड़ा समय हो भी तो बैंक खातों और पहचान पत्रों का अभाव भी था। इसलिए इनकी बुरी तरह लूट चालू हुई, नोटों के दलालों द्वारा, 500 के नोट 200-300 और एक हज़ार के नोट 600-700 में बेचकर अपने हाड़तोड़ श्रम की कमाई को लुटवाने के लिए मजबूर होना पड़ा इन्हें।

छोटे-काम धन्धे करने वालों पर पड़ने वाले असर को स्टेट बैंक ऑफ़ इण्डिया के एक सर्वे के परिणामों से समझा जा सकता है, जिसने मुम्बई-पुणे के व्यावसायिक इलाक़ों में नोटबन्दी के कारोबार पर असर जानने के लिए यह सर्वे किया। वैसे तो 69% कारोबारियों ने कहा कि काम-काज पर बुरा असर हुआ है, पर ज़्यादातर के लिए असर 50% से कम था। लेकिन सबसे ज़्यादा नुक़सान अनौपचारिक बाज़ार अर्थात सड़क किनारे के रेहड़ी-पटरी वालों पर हुआ - इनमें से 71% का काम आधे से भी कम रह गया क्योंकि इनके ज़्यादा ग्राहक भी ऐसे ही ग़रीब मज़दूर या निम्न मध्यवर्गीय लोग होते हैं जो ख़ुद ही संकट में थे। इसका और भी प्रमाण है कि देश में सबसे ज़्यादा रोज़गार देने वाले निर्माण उद्योग में 55% ने बताया कि उनका काम आधे से कम रह गया है, मतलब इस क्षेत्र में भारी संख्या में श्रमिक अपने रोज़गार से वंचित हुए।

श्रमिकों पर इसका असर समझने के लिए 13 हज़ार प्रत्यक्ष और 3 लाख अप्रत्यक्ष सदस्यों वाले ऑल इण्डिया मैनुफ़ैक्चरर्स ऑर्गेनाइज़ेशन के द्वारा दिसम्बर में किये गये अध्ययन के नतीजे भी अहम हैं। दिसम्बर में किये गये इस अध्ययन के अनुसार नोटबन्दी के पहले 34 दिन में ही 35% श्रमिकों को रोज़गार से वंचित होना पड़ा। यह भी अनुमान है कि मार्च 2017 तक 60% श्रमिक अपने रोज़गार से हाथ धो बैठेंगे। अध्ययन के अनुसार बड़े उद्योगों में कम और सबसे अधिक नुक़सान छोटे उद्योगों में हुआ है जहाँ काम-काज लगभग ठप्प हो गया है। इस संगठन का सरकारी रवैये के बारे में यह भी कहना है कि 'इस संकट की स्थिति में उन्होंने आँखें बन्द की हुई हैं, कान बन्द किये हुए हैं और बस अपनी और अपने आकाओं की पीठ थपथपाते रहते हैं। सभी राज्यों में सबसे बदतर हालात महाराष्ट्र और तमिलनाडु के हैं।' ध्यान रहे कि ये दोनों भारत के सर्वाधिक औद्योगीकृत राज्य हैं जहाँ बड़ी संख्या में प्रवासी मज़दूर आते हैं। ये दोनों राज्य हों या दिल्ली, लुधियाना जैसे अन्य औद्योगिक क्षेत्र सब जगह यही स्थिति है और बड़ी संख्या में बेरोज़गार हुए मज़दूरों को अपने गाँवों को वापस लौटना पड़ा है।

लेकिन इन गाँवों की स्थिति तो और भी बदतर है। नोटबन्दी के ठीक पहले ही ख़रीफ़ की फ़सल आयी थी, इस बार मानसून बेहतर होने से उपज बेहतर थी। किसानों को इस उपज को बेचकर पिछले क़र्ज़ उतरने और ज़िन्दगी में कुछ राहत की उम्मीद थी। पर मोदी जी की नोटबन्दी की वजह से फ़सल नहीं बिक सकी। उसने ख़रीदारों, जो बड़े किसान या साहूकार-आढ़तिये होते हैं, को अनाज बेचने की हर कोशिश की पर वह असफल रहा। सबने नोटबन्दी की वजह से हाथ उठा दिये या औने-पौने दाम दिये वह भी अक्सर या तो पुराने नोटों में या महीनों बाद जब नक़दी मिलेगी के आश्वासन पर। तुरन्त ख़राब होने वाली उपज जैसे सब्ज़ियों, आदि को तो ख़रीदारों या वाज़िब क़ीमतों के अभाव में फेंक देना पड़ा। धनी किसान तो यहाँ भी नुक़सान में नहीं रहे क्योंकि उन्हें तुरन्त पैसे का अभाव नहीं, अपने अनाज को स्टोर कर सकते हैं, यहाँ तक कि गरजबेचा ग़रीब किसान से सस्ते में ख़रीद कर उसे भी स्टोर कर बेहतर क़ीमत मिलने पर बेच सकते हैं। लेकिन छोटा किसान या बटाईदार मज़दूर क्या करे? मोदी की नोटबन्दी ने इन्हें कंगाल कर दिया है। धन के अभाव में अगली फ़सलों को बोने के लिए फिर साहूकारों से ख़ून-निचोड़ू सूद पर क़र्ज़ लेने को भी मजबूर हैं - ज़मीन, मकान, गहने, आदि गिरवी रखकर। इनमें से काफ़ी उन्हें फिर कभी वापस नहीं मिलने वाले। उनके खेतों में मज़दूरी करने वाले खेत मज़दूरों की स्थिति की तो सहज ही कल्पना की जा सकती है। इनकी मज़दूरी सरकारी आँकड़ों के अनुसार पिछले दो साल से पहले ही घट रही थी। अब शहर से बड़ी संख्या में बेरोज़गारों के वापस लौटने से मज़दूरों की सप्लाई में होने वाली वृद्धि इसे और भी गिरायेगी।

पहली सब घोषणाओं की असलियत सामने आने के बाद अब यह सरकार नोटबन्दी के पक्ष में कुछ नये 'तर्क' लेकर आयी है। एक, इससे बड़ी मात्रा में धन बैंकों में जमा हुआ है, उससे बैंक सस्ती दर पर ज़्यादा क़र्ज़ देंगे तो अर्थव्यवस्था तेज़ी से आगे बढ़ेगी, रोज़गार बढ़ेंगे। दूसरे, कैशलेस व डिजिटल लेन-देन से अनौपचारिक क्षेत्र को औपचारिक होना पड़ेगा, जिससे टैक्स वसूली बढ़ेगी और सरकार लोक कल्याण पर ज़्यादा ख़र्च कर सकेगी। तीसरे, महँगाई कम होगी। आइये इन्हें भी थोड़ा विस्तार से देखते हैं।

अर्थव्यवस्था में क़र्ज़ की मात्रा बैंकों के पास उपलब्ध जमाराशि से तय नहीं होती। क़र्ज़ की मात्रा तय होती है, अर्थव्यवस्था में होने वाले निवेश से जो बाज़ार माँग पर निर्भर होता है। जब माँग बढ़ती है और उत्पादन स्थापित क्षमता के 85-90% से ज़्यादा होने लगता है तो क्षमता के विस्तार के लिए नया निवेश होता है जिसके लिए पूँजी का मुख्य स्रोत बैंक क़र्ज़ है। लेकिन पिछले कुछ साल की नीतियों की वजह से नोटबन्दी के पहले ही जनता की गिरती आमदनी के कारण बाज़ार माँग सिकुड़ रही थी तथा उद्योग स्थापित क्षमता के 70% पर ही उत्पादन कर रहे थे अर्थात पूँजीवादी व्यवस्था पहले ही माँग की कमी से पैदा होने वाले 'अतिउत्पादन' के संकट से जूझ रही थी। इससे निवेश की स्थिति पिछले 8 साल में सबसे ख़राब थी और उद्योगों को बैंक क़र्ज़ में गिरावट हो रही थी। अब नोटबन्दी की वजह से श्रमिकों तथा अन्य मेहनतकश तबक़े को बड़ी मात्रा में रोज़गार से हाथ धोना पड़ा है इससे माँग और कम होगी तो नया निवेश कहाँ से होगा? सेण्टर फ़ॉर मॉनिटरिंग इण्डियन इकोनॉमी के अनुसार इस स्थिति का प्रभाव अगले 5 वर्ष तक रहने वाला है जब जीडीपी की वृद्धि दर पुराने अनुमानों से 2% कम रहेगी। अगर अर्थव्यवस्था में तेज़ी नहीं आने वाली तो जनता से ज़बरदस्ती जमा कराये गये धन से सस्ती की गयी ब्याज़ दरों का लाभ किसे होगा? निश्चित रूप से बैंक क़र्ज़ दबाये बैठे कॉर्पोरेट घरानों को। 7.3 लाख करोड़ क़र्ज़ लिये बड़े कॉर्पोरेट घरानों को ब्याज़ दर में 1% कमी से सीधे 7300 करोड़ सालाना का मुनाफ़ा होगा। अर्थात अर्थव्यवस्था में कोई तेज़ी आये बग़ैर और रोज़गार बढ़े बग़ैर ही मुनाफ़े बढ़ जायेंगे। इसीलिए यह वर्ग और इसका भोंपू मीडिया पूरी मजबूती से मोदी के पीछे खड़ा है। यह भी समझना चाहिए कि यह 7300 करोड़ आम जनता से छीनकर कॉर्पोरेट घरानों को दी जाने वाली सब्सिडी है क्योंकि ऐसा करने के लिए पहले जमा राशि पर मिलने वाली ब्याज़ दरों में भारी कटौती की गयी है। इसकी मार किसी तरह वक़्त ज़रूरत के लिए बचत करने वाले निम्न मध्य वर्ग, गृहिणियों, बुज़ुर्ग लोगों, आदि पर ही पड़ती है।

जहाँ तक कैशलेस होने का सवाल है तो पूँजीवादी व्यवस्था में कोई भी उत्पाद या सेवा खैरात या आवश्यकतापूर्ति के लिए नहीं बल्कि मुनाफ़ा कमाने के लिए विक्रय की जाती है। कैशलेस का मतलब है हर लेन-देन में एक तीसरे दलाल अर्थात कैशलेस डिजिटल सेवा देने वाले का प्रवेश जो इसके लिए शुल्क लेगा। इससे अर्थव्यवस्था में लागत बढ़ेगी, लेन-देन की गति कम होगी तथा तीसरे पक्ष पर निर्भरता होगी। यह तीसरा पक्ष बैंक है (ध्यान रहे कि डिजिटल बटुए वाले पेटीएम, एयरटेल मनी, जिओ मनी, आदि भी सब बैंक बनने की प्रक्रिया में हैं)। अर्थात पूरी अर्थव्यवस्था पर बैंकों की वित्तीय पूँजी का नियन्त्रण बढ़ेगा जो इसकी रक्त-मज्जा से अपना हिस्सा वसूल करेगा। इससे अनौपचारिक अर्थव्यवस्था के छोटे काम-धन्धे करने वालों को फ़ायदा नहीं नुक़सान ही होगा, उनकी लागत बढ़ेगी और आमदनी कम, उसमें से भी एक हिस्सा वित्तीय पूँजी के हवाले। हाँ, अप्रत्यक्ष करों में थोड़ी वृद्धि होगी, जिससे कॉर्पोरेट तबक़े को कॉर्पोरेट टैक्स और धनी तथा उच्च मध्यम वर्ग को आयकर में और भी छूट दी जा सकेगी। अगले बजट में ऐसा

(पेज 7 पर जारी)

“अच्छे दिन” के कानफाड़ू शोर के बीच 2% बढ़ गयी किसानों और मज़दूरों की आत्महत्या दर! मुनाफ़े की व्यवस्था में बर्बाद होना ही छोटे किसानों की नियति है!

(पेज 16 से आगे)

किसानों की ओर से आता है, और जब खेती मुख्यतया मण्डी में मुनाफ़ा कमाने के लिए होने लगती है तो छोटे मालिक किसान इस होड़ में अपने आप घसीट लिये जाते हैं और धनी किसान उनको बाज़ार से खदेड़कर बाहर फेंक देते हैं। बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, यही पूँजीवादी बाज़ार का अटल नियम है। ऐसे में ग़रीब और छोटे किसानों को भी मण्डी में टिके रहने के लिए कृषि पैदावार और तकनीक में पैसे लगाने की ज़रूरत होती है और इसके लिए उनको क़र्ज़ा लेना पड़ता है पर बेहद छोटे-छोटे खेतों में छोटे पैमाने पर पैदावार के कारण उनकी लागत ज़्यादा बैठती है, आमदनी भी कम होती है और उनका क़र्ज़ा चुकाना मुश्किल हो जाता है। फ़सल ख़राब होने या सूखा पड़ने से तो मात्र इतना होता है कि उनकी हालत थोड़ी और ज़्यादा ख़राब हो जाती है क्योंकि वो पहले से ही ख़राब थी! इस तरह ग़रीब और छोटे किसानों के क़र्ज़े और आत्महत्याओं की जड़ें पूरी पूँजीवादी व्यवस्था में, या कह लें कि मुनाफ़े के लिए की जाने वाली खेती में हैं। जब तक खेती मुनाफ़े के लिए होगी और जब तक खेती की ज़मीन पर धनी किसान का निजी मालिकाना रहेगा तब तक छोटे किसान मुनाफ़ा कमाने की गलाकाटू होड़ में पिछड़ते जायेंगे और बर्बाद होकर या तो मज़दूर बनेंगे या आत्महत्या करेंगे। यही आज पूरे देश में हो रहा है महाराष्ट्र, कर्नाटक से लेकर पंजाब, यूपी तक। ऊपर दिये गये आँकड़े साफ़ बता रहे हैं कि जिन 73 फ़ीसदी किसानों के पास दो एकड़ या उससे कम ज़मीन थी वही मुख्यत: आत्महत्या कर रहे हैं यानी कि मुख्यत: छोटा किसान ही मर रहा है ना कि धनी किसान! जो छोटे और निम्न मध्यम मालिक किसान हैं, वे सदियों से ज़मीन के निजी मालिकाने की भूख से चिपके रहने से पैदा हुई कूपमण्डूकता के कारण अनुभवसंगत ढंग से भी पूँजी की गति को नहीं समझ पाते और अपनी छोटी किसानी को जैसे-तैसे बचाकर खुशहाल होने का दिवास्वप्न पाले रहते हैं। यही विभ्रम इनमें से कुछ को आत्महत्या के मुक़ाम तक पहुँचा देता है। गाँवों में पूँजीवाद के पैठने और खेती के पूँजीवादी रूपान्तरण की अनिवार्य परिणति के तौर पर छोटे मालिक किसान को उजड़कर मज़दूर ही बनना है। यही उसका पूँजीवाद में असली भविष्य है। यह पूँजीवाद की सार्वकालिक और सार्वभौमिक परिघटना है, विभिन्न कारणों से कहीं इसकी गति मन्द और कहीं तीव्र हो सकती है पर कोई भी कुछ भी करके छोटे किसान को पूँजीवाद में बर्बाद होने से नहीं बचा सकता। अमेरिका से लेकर यूरोप आदि तक के पूँजीवादी देशों का इतिहास इसी बात का साक्षी रहा है। आज इन देशों में खेती पूरी तरह आधुनिक तरीक़ों से होती है और खेती में जनसंख्या का नगण्य हिस्सा ही लगा हुआ है क्योंकि तमाम छोटे मालिक किसान ख़त्म होकर अन्य धन्धों-पेशों की ओर चले गये। पूँजीवादी बाज़ार में वही मालिक किसान टिकेगा जो भारी पूँजी निवेश वाली खेती कर सकता है। शेष छोटी किसानी को उजड़ना ही है। इन्हीं उजड़े किसानों से शहरों और गाँवों के उजरती मज़दूरों की संख्या में भारी बढ़ोत्तरी होती है।

इसी बात को हम दूसरे तरीक़े से भी समझ सकते हैं। ऊपर दिये गये चित्र में एनसीआरबी के अनुसार 2014 में भूस्वामित्व के अनुसार किसानों को चार श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया है। पहला है, सीमान्त कृषक (1 हेक्टेयर से कम ज़मीन के मालिक), लघु कृषक (1 हेक्टेयर से ज़्यादा पर 2 हेक्टेयर से नीचे के मालिक), मध्यम किसान (2 हेक्टेयर से 10 हेक्टेयर के नीचे के मालिक) और बड़े किसान (10 हेक्टेयर से अधिक ज़मीन के मालिक)। इस चित्र को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि कुल आत्महत्या करने वाले किसानों में 28% सीमान्त कृषक व 45% लघु कृषक थे जो कुल आत्महत्याओं का 73% बनता है। साथ ही हम देख सकते हैं कि मात्र 2% धनी किसानों ने आत्महत्या की। यानी कि तथ्य बता रहे हैं कि पूँजीवादी खेती करके मुख्यत: सीमान्त, छोटे किसान व निम्न मध्यम किसान बर्बाद हो रहे हैं जैसा कि हमारा विश्लेषण साबित करता है क्योंकि धनी किसानों व बड़ी कॉर्पोरेट फ़ार्मिंग की पूँजी की ताक़त के आगे वे बाज़ार में टिक ही नहीं पा रहे हैं। कृषि के संकट पर ग़ैरवर्गीय ढंग से सोचने वाले लोग प्राय: इस तथ्य को इंगित नहीं करते कि गाँवों में पूँजी संचय में भारी वृद्धि हुई है जो धनी किसान के पास है और खेती के तमाम संकटों के बावजूद महाराष्ट्र, पंजाब आदि में धनी कुलकों किसानों के पास आज भारी तादाद में ऑडी, मर्सिडीज़, बीएमडब्ल्यू जैसी गाड़ियाँ हैं। जब इनके घरों में शादियाँ होती हैं तो पैसा पानी की तरह बहाया जाता है। पूरे देश में गाँव के धनी तबक़े के उपभोग का स्तर लगातार काफ़ी ऊपर आया है। इस धनी किसान और पूँजीवादी कॉर्पोरेट के “अच्छे दिन” आ चुके हैं पर मुनाफ़े की गलाकाटू होड़ में धनी किसानों द्वारा बाज़ार से लतियाये जाने वाले छोटे किसान बर्बाद होकर मज़दूर बन रहे हैं या आत्महत्या कर रहे हैं। पूरे देश में मुलायम, लालू, देवीलाल, चौटाला, चौधरी चरण सिंह, महेंद्र सिंह टिकैत आदि क्षेत्रीय दल गाँव के इन्हीं धनी कुलक किसान फ़ार्मरों, शोषकों के नेता हैं जो अपने खेत पर मुनाफ़े को बढ़ाने के लिए ग़रीब खेत मज़दूरों के श्रम का जमकर नंगा शोषण करते हैं।

आँकड़ों से साफ़ है कि 2014 और 2015 में 6710 और 4595 कृषि मज़दूरों ने भी आत्महत्या की और उनका प्रतिशत भी काफ़ी है पर इसके बावजूद पी साईनाथ जैसे विद्वान कई सालों से किसान विस्थापन, कृषि ऋण, किसानों की आत्महत्या और खेती की तबाही आदि मुद्दों को उठाते रहे हैं, पर कृषि मज़दूरों के बारे में उन्होंने इतना विस्तृत लेखन कभी नहीं किया। दूरदर्शन आदि के चौपाल टाइप के कृषि कार्यक्रम में भी किसान भाइयों को ही “राम राम” किया जाता है और मज़दूर भाइयों को एकदम भुला दिया जाता है। मुनाफ़े के लिए पैदा करने वाले “मालिक” किसान से इतनी हमदर्दी, पर जब वही “मालिक” किसान उजड़कर मज़दूर बनता है, और जिसकी संख्या आज देश में सबसे ज़्यादा है, तो तब सब उसे भूल जाते हैं! ऐसा वर्गदृष्टि के दोष के कारण होता है जिसके चलते पी साईनाथ टाइप मध्यवर्गीय प्रोफ़ेसरों, शोध अध्ययन करने वाले अध्येताओं, चिन्तकों को बड़े पैमाने पर आत्महत्या करते कृषि मज़दूर नहीं दिखाई देते, पर मालिक किसान दिख जाते हैं। वर्ग समाज में ‘मानवीय संवेदनाओं’ का भी एक वर्गीय चरित्र होता है। धनी मालिकों के मरने पर हम विचलित हो जाते हैं पर मेहनतकश मज़दूरों के मरने पर हमें कुछ महसूस नहीं होता! एक वैज्ञानिक मज़दूरवर्गीय दृष्टि के अभाव में ऐसे चिन्तक किसानों की आत्महत्याओं के असली कारण की सही पड़ताल भी नहीं कर पाते, और इन आत्महत्याओं को रोकने के लिए यूटोपियन क़िस्म के हवा हवाई नुस्खे सुझाते रहते हैं। कोई कहता है कि सही तरीक़े से मुआवज़ा दे दो, सब ठीक हो जायेगा। पर यदि बेहतर दर पर मुआवज़ा दे भी दें तो भी पूँजीवादी व्यवस्था में यह वितरण अन्यायपूर्ण होता है और हर हाल में इसका लाभ उत्पादन के साधनों (ज़मीन, कृषि उपकरण आदि) के उन बड़े मालिकों को ही ज़्यादा मिलता है जो ग़रीब मज़दूर की श्रमशक्ति को निचोड़कर बाज़ार के लिए पैदा करते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि कृषि क़र्ज़ों को माफ़ कर दो। पर अगर छोटे किसानों और निम्न मध्यम किसान का क़र्ज़ा माफ़ भी कर दिया जाये तो इससे उनको कुछ समय के लिए ज़रा सी राहत तो मिलेगी पर ये ऊँट के मुँह में जीरे के समान होगी क्योंकि ऊपर बताये गये कारणों के चलते वे फिर भी लम्बी दूरी में धनी कुलक किसान और बड़ी पूँजीवादी कम्पनियों से मुनाफ़ा कमाने की दौड़ में पिट जायेंगे। कुछ समय बाद बाज़ार के नियमों के आगे मजबूर होकर वे फिर से क़र्ज़दार हो जायेंगे इसलिए इनकी आत्महत्याओं को रोकने के लिए क़र्ज़ा माफ़ी कोई समाधान नहीं है। सबसे आम नुस्खा कृषि उत्पादों की क़ीमत (न्यूनतम ख़रीद मूल्य) बढ़ाने और लाभकारी मूल्य को बढ़ाने का पेश किया जाता है। कृषि लागत के लगातार बढ़ते जाने और कृषि उत्पादों का लाभकारी मूल्य न मिलने पर पी सांईनाथ जैसे लोग काफ़ी चिन्ता प्रकट करते हैं। लेकिन खेती के लागत मूल्य और लाभकारी मूल्य की ख़ूब बातें करने वाले ये लोग कभी भी श्रमशक्ति के मूल्य का सवाल नहीं उठाते। पूँजीवादी व्यवस्था में, बाज़ार में यदि कृषि उत्पादों का मूल्य बढ़ता है तो उसका बोझ महँगाई के रूप में आम बहुसंख्यक मेहनतकश जनता ही चुकाती है। जनता को बाज़ार से महँगा खाना व सामान ख़रीदना पड़ता है और इससे मालिक किसानों को जो लाभ मिलता है, उससे वे अपने खेतों में काम करने वाले मज़दूरों की मज़दूरी तो क़त्तई नहीं बढ़ाते। यानी लाभकारी मूल्य का मतलब है कि आम मेहनतकश जनता के हितों की क़ीमत पर बाज़ार के लिए पैदा करने वाले किसानों को अधिक मुनाफ़ा (अधिशेष) हासिल करने का अवसर देना, इसका मतलब है अल्पमत के संकीर्ण हित के लिए बहुमत जनता के हित को कुर्बान कर देना। अब लागत मूल्य के सवाल को लें। खेती के लिए ज़रूरी चीज़ों (उर्वरक, कीटनाशक, बीज, बिजली, उपकरण आदि) के मूल्य तभी कम किये जा सकते हैं जब इनमें लगने वाली श्रमशक्ति का मूल्य कम कर दिया जाये यानी इनका उत्पादन करने वाले मज़दूरों की वास्तविक मज़दूरी घटा दी जाये, क्योंकि इनके उत्पादन में लगने वाले कच्चे माल का मूल्य तो सीधे उत्पाद के मूल्य में संक्रमित हो जाता है। यानी खेती की लागत को कम केवल पहले से ही ग़रीब मज़दूरों की मज़दूरी मारकर, उनको और कंगाल करके ही किया जा सकता है। इसलिए लाभकारी मूल्य बढ़ाने की माँग या लागत कम करने की माँग दरअसल शोषक धनी मालिक कुलक किसानों की माँग है जो ख़ुद के खेत पर श्रम नहीं करते और मज़दूर रखकर उनसे काम करवाते हैं और ऐसी माँगों से मुख्यत: इन धनी किसानों को ही लाभ होता है और जितना ज़्यादा इन धनी किसानों को लाभ मिलता है उतनी ही तेज़ी से ये छोटे किसान को बाज़ार से खदेड़कर बाहर फेंक देते हैं। इसलिए लाभकारी मूल्य बढ़ाने की या लागत कम करने की माँग सिसमोंदी और रूसी नरोदवादियों जैसी निम्न पेटी बुर्जुआ यूटोपियन माँगें हैं और यह यूटोपिया माकपा, भाकपा, लिबरेशन आदि के संशोधनवादियों और नववामपन्थी "मुक्त चिन्तकों" को भी ख़ूब भाता है। यही नहीं जो कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आज भी नवजनवादी क्रान्ति के पुराने स्पेस-टाइम कैप्सूल में बन्द होकर भूमि क्रान्ति की बातें करते हैं, वे भी खेती के संकट के पूँजीवादी चरित्र को नहीं समझ पाने के कारण इसी नरोदवादी पेटी बुर्जुआ यूटोपिया के शिकार बन जाते हैं। दूसरे नुस्खों में आत्महत्या रोकने के लिए बदली फ़सलें या सब्ज़ियाँ आदि बोने की सलाहें दी जाती हैं। पर यह भी कोई हल नहीं है। सब्ज़ियाँ आदि बोकर कोई एक किसान तो टिका रह सकता है पर अगर बहुत से लोग सब्ज़ियाँ बोने लगेंगे तो मण्डी में ज़रूरत से ज़्यादा फ़सल आ जायेगी और क़ीमतें पहले से भी ज़्यादा गिरने से फिर किसानी का एक हिस्सा तबाह हो जायेगा। यह तो पंजाब में आलू, किन्नू, यूपी में गन्ने, टमाटर आदि की फ़सल के मामले में अक्सर ही देखने को मिलता है। एक और हल ज़मीन का बँटवारा भी पेश किया जाता है। लेकिन अगर सबको बराबर-बराबर ज़मीन मिल भी गयी तब भी बाज़ार क़ब्ज़ाकर ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा कमाने की होड़ के चलते लम्बी दूरी में कृषि में वापस ध्रुवीकरण हो जायेगा और ज़मीन, पूँजी व उत्पादन के साधन दुबारा कुछ धनी किसानों, कुलकों, फ़ार्मरों के हाथों में केन्द्रित हो जायेंगे और दूसरी ओर ग़रीब छोटे किसान उत्पादन के साधनों से वंचित होकर मज़दूरों की क़तारों में शामिल होते जायेंगे। हम फिर वहीं पहुँच जायेंगे जहाँ से शुरू किया था। इस तरह इन सभी मध्यवर्गीय नीम हक़ीमों और नुस्खेबाज़ों के पास इस समस्या का कोई स्थायी हल नहीं है, और उनके नुस्खे ज़्यादा से ज़्यादा केवल कुछ देर के लिए ही राहत दे सकते हैं लेकिन लम्बी दूरी इस समस्या से मुक्ति नहीं दिला सकते।

एनसीआरबी की रपट में यह बात भी सामने आयी है कि जिन किसानों ने 2015 में क़र्ज़ न चुका पाने के कारण ख़ुदकुशी की उनमें से 80 फ़ीसदी किसानों ने बैंकों से क़र्ज़ लिया था, न की महाजनों से। डेटा के मुताबिक़ जिन 3,000 किसानों ने 2015 में आत्महत्या की थी उनमें से 2,474 ने बैंकों या किसी माइक्रो फ़ाइनेंस कम्पनी से क़र्ज़ लिया था व क़र्ज़ के कारण किसानों की आत्महत्या 2015 में लगभग तीन गुणा बढ़ी थी। 2014 में जहाँ 1,163 किसानों ने आत्महत्या की थी वहीं 2015 में 3,097 किसानों ने आत्महत्या की। इस तथ्य से स्पष्ट है कि भारत में अब कहीं भी मुख्यत: सामन्त या सामन्ती लगान या अत्याचारी ज़मीदार के कारण किसान परेशान नहीं है बल्कि गाँव में आज खेत मज़दूर और ग़रीब छोटे किसान दोनों मुख्यत: पूँजी की मार से परेशान हैं ओर धनी किसान की पूँजी छोटे किसानों को लगातार मुनाफ़े की चूहादौड़ में धोबी-पटका देकर बाज़ार से खदेड़ रही है। पर इस बात को भूमि क्रान्ति (नवजनवादी क्रान्ति) की बात करने वाले कई क्रान्तिकारी समूह समझ ही नहीं पा रहे हैं और अतीत की क्रान्तियों के हैंगओवर से अपने आपको 21वीं शताब्दी में भी मुक्त नहीं कर पा रहे हैं। इसलिए जब तक मुनाफ़े और ज़मीन के निजी मालिकाने पर टिकी समूची पूँजीवादी खेती को त्यागकर समाजवादी खेती को नहीं अपनाया जाता तब तक छोटे किसानों की आत्महत्या को भी नहीं रोका जा सकता। ये समस्या मात्र कुछ सुधार करके या नाना पाटेकर, आमिर ख़ान आदि की तरह “समाजसेवा” करके दूर नहीं हो सकती।

सावित्रीबाई फुले की विरासत को आगे बढ़ाओ। नई शिक्षाबन्दी के विरोध में नि:शुल्क शिक्षा के लिए एकजुट हों!

भारत में सावित्रीबाई फुले सम्भवत: पहली महिला थीं, जिन्होंने जाति प्रथा के साथ ही स्त्रियों की गुलामी के ख़िलाफ़ आवाज़ उठायी। सावित्रीबाई फुले का जन्म 3 जनवरी 1831 को हुआ था। 1848 में अपने पति ज्योतिबा फुले के साथ मिलकर ब्राह्मणवादी ताक़तों से वैर मोल लेकर पुणे के भिडे वाडा में लड़कियों के लिए स्कूल खोला था। इस घटना का एक क्रान्तिकारी महत्व है। पीढ़ी दर पीढ़ी दलितों पर अनेक प्रतिबन्धों के साथ ही "शिक्षाबन्दी" के प्रतिबन्ध ने भी दलितों व स्त्रियों का बहुत नुक़सान किया था। ज्योतिबा व सावित्रीबाई ने इसी कारण वंचितों की शिक्षा के लिए गम्भीर प्रयास शुरू किये। मनुस्मृति के अघोषित शिक्षाबन्दी क़ानून के विरूद्ध ये ज़ोरदार विद्रोह था। इस संघर्ष के दौरान उन पर पत्थर, गोबर, मिट्टी तक फेंके गये पर सावित्रीबाई ने शिक्षा का महत्वपूर्ण कार्य बिना रुके किया। उन्होंने संघर्ष की अगली कड़ी में हिन्दू समाज में विधवाओं की दुर्दशा में बदलाव पर ज़ोर दिया। इसके लिए विधवाओं के सिर मुँडवाना तथा सामाजिक कार्य में भेदभाव व रूढ़ियों के ख़िलाफ़ संघर्ष किया। सिर मुँडवाने की प्रथा के ख़िलाफ़ उन्होंने नाईयों की हड़ताल आयोजित की ताकि वे विधवाओं के सिर के बाल न मुँडने पर राजी हो सके। साथ ही उन्होंने ऐसी बेसहारा व ज़ोर ज़बरदस्ती कर थोपी गयी गर्भवती महिलाओं के लिए 'डिलीवरी होम' बनाये ताकि ऐसी माहिलाओं व आने वाले नवजात की ज़िन्दगी को बचाया जा सके।

अंग्रेज़ों ने भारत में जिस औपचारिक शिक्षा की शुरुआत की थी, उसका उद्देश्य "शरीर से भारतीय पर मन से अंग्रेज़" क्लर्क पैदा करना था। इसलिए उन्होंने न तो शिक्षा के व्यापक प्रसार पर बल दिया और न ही तार्किक और वैज्ञानिक शिक्षा पर। ज्योतिबा-सावित्रीबाई ने सिर्फ़ शिक्षा के प्रसार पर ही नहीं बल्कि प्राथमिक शिक्षा में ही तार्किक और वैज्ञानिक शिक्षा पर बल दिया। अन्धविश्वासों के विरुद्ध जनता को शिक्षित किया। आज जब ज्योतिषशास्त्र को फासीवादी सरकार द्वारा शिक्षा का अंग बनाने की कोशिश हो रही है, तमाम सारी अतार्किक चीज़ें पाठ्यक्रमों में घोली जा रही हैं तो ऐसे में ज्योतिबा-सावित्री के संघर्ष का स्मरण करना ज़रूरी हो जाता है।

ज्योतिबा और सावित्री ने शिक्षा का ये प्रोजेक्ट अंग्रेज़ी राज्यसत्ता पर निर्भर रहे बिना चलाया। चाहे वो लड़कियों की पाठशाला हो या प्रौढ़ साक्षरता पाठशाला, उन्होंने सिर्फ़ जनबल के दम पर इसे खड़ा किया और चलाया। अड़चनों व संकटों का सामना अत्यन्त बहादुरी से किया। ज्योतिबा ये भी समझने लगे थे कि अंग्रेज़ राज्यसत्ता भी दलितों की कोई हमदर्द नहीं है। इसीलिए उन्होंने किसान का कोड़ा में लिखा था कि अगर अंग्रेज़ अफ़सरशाही व ब्राह्मण सामन्तशाही की चमड़ी खूरचकर देखी जाये तो नीचे एक ही ख़ून मिलेगा यानी कि दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

शिक्षा के क्षेत्र में इतना क्रान्तिकारी काम करने वाली सावित्रीबाई का जन्मदिवस ही असली शिक्षक दिवस है पर यह विडम्बना है कि आज एक ऐसे व्यक्ति का जन्मदिवस शिक्षक दिवस के रूप में मनाया जाता है जिस पर थीसिस चोरी का आरोप है और जो वर्ण व्यवस्था का समर्थक है।

सावित्रीबाई के समय भी ज़्यादातर ग़रीब शिक्षा से वंचित थे और दलित उससे अतिवंचित थे। आज शिक्षा का पहले के मुक़ाबले ज़्यादा प्रसार हुआ है। पर फिर भी व्यापक ग़रीब आबादी आज भी वंचित है और दलित उसमें भी अतिवंचित हैं। स्वतन्त्रता के बाद राज्यसत्ता ने शिक्षा की पूरी ज़िम्मेदारी से हाथ ऊपर कर लिये और 1991 की निजीकरण, उदारीकरण की नीतियों के बाद तो उसे पूरी तरह बाज़ार में लाकर छोड़ दिया है। सरकारी स्कूलों की दुर्वस्था व निजी स्कूलों व विश्वविद्यालयों के मनमाने नियमों व अत्यधिक आर्थिक शोषण के कारण पहले ही दूर रही शिक्षा सामान्य ग़रीबों की क्षमता से बाहर चली गयी है। आज एक आम इंसान अपने बच्चों को डॉक्टर या इंजीनियर बनाना तो सपने में भी नहीं सोच सकता। स्वतन्त्रता के 70 साल बाद भी साक्षरता सिर्फ़ 64 प्रतिशत पहुँची है। आज शिक्षा और विशेषकर उच्च शिक्षा के दरवाज़े सिर्फ़ अमीरों के लिए खुले हैं। शिक्षा की अत्यन्त सृजनात्मक क्रिया शिक्षण माफ़िया के लिए सोने के अण्डे देने वाली मुर्गी हो गयी है। अनिवार्य शिक्षा, छात्रवृत्तियाँ व आरक्षण आज खेत में खड़े बिजुका की तरह हो गये हैं जिसका फ़ायदा आम मेहनतकश को नहीं या बहुत कम मिल पा रहा है। आज एक बार फिर से ग़रीबों व विशेषकर दलितों व अन्य वंचित तबक़ों से आने वालों पर नयी शिक्षाबन्दी लागू हो गयी है। आज सावित्रीबाई को याद करते हुए हमें ये विचार करना होगा कि उनके शुरू किये संघर्ष का आज क्या हुआ? नयी शिक्षाबन्दी को तोड़ने के लिए सभी ग़रीबों-मेहनतकशों की एकजुटता का आह्वान कर सबके लिए नि:शुल्क शिक्षा का संघर्ष हमें आगे बढ़ाना होगा। साथ ही स्त्री मुक्ति के संघर्ष में पूँजीवाद व पितृसत्ता के ख़िलाफ़ निर्णायक लड़ाई की तैयारी में ऊँच-नीच, अन्धविश्वासों और पाखण्डों के ख़िलाफ़ आन्दोलनात्मक, प्रचारात्मक व सांस्कृतिक अभियानों का बिगुल फूँकना होगा। ज्ञात हो सावित्रीबाई ने पहले ख़ुद सिखा व सामाजिक सवालों पर एक क्रान्तिकारी अवस्थिति ली। ज्योतिबा की मृत्यु की बाद भी वो अन्तिम साँस तक जनता की सेवा करती रहीं। उनकी मृत्यु प्लेगग्रस्त लोगों की सेवा करते हुए हुई। अपना सम्पूर्ण जीवन मेहनतकशों, दलितों व स्त्रियों के लिए कुर्बान कर देने वाली ऐसी जुझारू महिला की विरासत को इंसाफ़पसन्द आबादी तक ले जाना बेहद ज़रूरी है। साथी उनके सपनों को आगे ले जाने का संकल्प लेते हैं।

बिगुल टीम, महाराष्ट्र

मनुस्मृति दहन (25 दिसम्बर, 1927) की 89वीं वर्षगाँठ पर

जाति उन्मूलन आन्दोलन को प्रतीकवाद, सुधारवाद और अर्जियाँ देने से आगे ले जाने का संकल्प लो!

आज से 89 वर्ष पहले महाड़ में मेहनतकश दलितों ने एक बग़ावत शुरू की थी। इसकी शुरुआत 19-20 मार्च 1927 को बहिष्कृत सम्मेलन से हुई थी। लेकिन वास्तव में इस सम्मेलन का विचार आर बी मोरे ने मई 1924 में पेश किया, जिन्हें बाद में कॉमरेड आर बी मोरे के नाम से जाना गया। इस सम्मेलन में डॉ. अम्बेडकर को उनकी अकादमिक उपलब्धियों के लिए सम्मानित करने की योजना बनायी गयी थी। तीन वर्षों की तैयारी के बाद 19-20 मार्च 1927 को महाड़ में यह सम्मेलन हुआ और सम्मेलन की समाप्ति के ठीक पहले अनन्त विनायक भाई चित्रे के प्रस्ताव पर यह निर्णय लिया गया कि सभी एकत्र लोग साथ जाकर बोले प्रस्ताव को लागू करें और चावदार तालाब से पानी पियें। बोले प्रस्ताव को महाड़ के नगरनिगम ने पास कर दिया था, जिसके अनुसार सभी सार्वजनिक जल भण्डार दलितों के लिए खुले होंगे। 20 मार्च 1927 को दलितों ने चावदार तालाब से पानी लेकर पिया। जुलूस की अगुवाई डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने की। इसके बाद वापस लौटते दलितों पर जातिवादी ब्राह्मणवादी गुण्डा ताक़तों ने हमले किये। मेहनतकश और जुझारू दलित हज़ारों की तादाद में महाड़ में मौजूद थे और इन हमलों का जवाब देना चाहते थे। मगर डॉ. अम्बेडकर ने उन्हें ऐसा करने से रोक दिया और क़ानून के दायरे में रहकर काम करने का निर्देश दिया। इसके बाद 25 दिसम्बर 1927 को डॉ. अम्बेडकर के नेतृत्व में चावदार तालाब से फिर से पानी लेने के लिए सत्याग्रह आयोजित करने का प्रण लिया गया।

इस सत्याग्रह के लिए लम्बी तैयारियाँ की गयीं। इसी सत्याग्रह के लिए आयोजित सम्मेलन के पहले दिन (25 दिसम्बर 1927) को मनुस्मृति के चुने हुए हिस्सों को बापू सहस्रबुद्धे ने हवनकुण्ड की अग्नि के हवाले किया। डॉ. अम्बेडकर मनुस्मृति के उन हिस्सों को बापू सहस्रबुद्धे को सौंप रहे थे। यह जाति उन्मूलन के लिए ब्राह्मणवादी विचारधारा पर चोट करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रतीकात्मक क़दम था। इस दिन का इस रूप में ऐतिहासिक महत्व है। बाद में, महाड़ सत्याग्रह न हो सका क्योंकि ब्राह्मणवादी ताक़तों ने ब्रिटिश कोर्ट से स्थगन आदेश ले लिया था और कलेक्टर ने स्वयं सम्मेलन में आकर एक भाषण दिया, जो वास्तव में क़ानून न तोड़ने की धमकी थी। इसके बावजूद सम्मेलन के बहुमत ने निर्णय लिया कि क़ानून तोड़कर भी सत्याग्रह किया जाये। लेकिन सम्मेलन के तीसरे दिन सुबह डॉ. अम्बेडकर के प्रस्ताव पर यह निर्णय लिया गया कि ब्रिटिश सरकार व क़ानून के विरुद्ध नहीं जाना चाहिए। सम्मेलन का समापन एक प्रतीकात्मक जुलूस के साथ हुआ। इसके बाद क़रीब दस वर्ष तक डॉ. अम्बेडकर ब्रिटिश अदालत के फ़ैसले के ख़िलाफ़ केस लड़ते रहे। अन्त में बॉम्बे हाईकोर्ट ने फ़ैसला दिया कि दलितों को चावदार तालाब से पानी पीने का हक़ है क्योंकि वह सार्वजनिक तालाब है और केस में डॉ. अम्बेडकर की विजय हुई। मगर तब तक वह महान विद्रोह समाप्त हो चुका था, जिसे ग़रीब मेहनतकश दलितों ने महाड़ में 1927 में शुरू किया था।

इसके बावजूद, मनुस्मृति दहन का एक प्रतीकात्मक महत्व था और यह दूसरे महाड़ सम्मेलन की उपलब्धि था। इस प्रतीकात्मक घटना ने दलित आबादी के बीच एक आत्मविश्वास पैदा करने और दिमाग़ी गुलामी की बेड़ियों को तोड़ने में एक भूमिका निभायी। उस दौर में, एक प्रतीकात्मक क़दम का भी एक महत्व था, जो कि किसी भी दमित शोषित आबादी के आन्दोलन के शुरुआत में होता है।

लेकिन साथियो! आज हम महज़ प्रतीकात्मक क़दमों के दौर से बहुत आगे आ चुके हैं। दलित आबादी का 89 प्रतिशत कामगार है। ये कामगार समझते हैं कि जहाँ सम्मान की लड़ाई को लड़ना ज़रूरी है, वहीं यह भी सच है कि अपने आर्थिक और राजनीतिक हक़ों को हासिल किये बिना सामाजिक सम्मान की लड़ाई भी अधूरी रहेगी। वे अपने भौतिक अधिकारों के लिए भी सड़कों पर उतरते रहे हैं। 1907 में महान अय्यंकली के विद्रोह से लेकर वाईकोम सत्याग्रह, तेलंगाना, तेभागा, पुनप्रा -वायलार में खेतिहर दलित मज़दूरों के संघर्ष और फिर देश के अलग-अलग हिस्सों में 1960 और 1970 के दशक में सवर्ण ज़मींदारों के ख़िलाफ़ दलितों के जुझारू संघर्षों तक, जाति-उन्मूलन की लड़ाई ने एक लम्बा सफ़र तय किया है। इस लड़ाई में डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने भी दलितों के बीच सम्मान और गरिमा का बोध स्थापित करने में महत्वपूर्ण योगदान किया और ब्रिटिश सरकार से कई क़ानूनी अधिकार व रियायतें हासिल कीं।

आज हम जिस मुक़ाम पर खड़े हैं वहाँ केवल प्रतीकात्मक क़दमों से काम नहीं चल सकता। आज दलितों के सम्मान के लिए भी सिर्फ़ अरज़ियाँ देने, मुक़दमे लड़ने और सरकारों को ज्ञापन देने से ज़्यादा कुछ नहीं होने वाला है और सड़कों पर उतरकर लड़ने की ज़रूरत है। क्या अदालतों में ग़रीब दलित आबादी के लिए न्याय है? क्या बथानी टोला, लक्ष्मणपुर बाथे के हत्यारों को सज़ा मिली? क्या दलित विरोधी उत्पीड़न में क़ानूनों, मुक़दमों और अर्जियों से कोई कमी आयी है? क्या अस्मितावादी राजनीति करने वाले तथाकथित दलित चुनावी और ग़ैर-चुनावी दल वोट बैंक और प्रतीकात्मक मुद्दों से आगे जाते हैं? नहीं।

ऐसे में, मनुस्मृति दहन की वर्षगाँठ के मौक़े पर हमें क्या संकल्प लेना चाहिए? हमें आज एक ऐसे जाति उन्मूलन आन्दोलन की आवश्यकता है, जो कि सड़कों पर लड़ने की ताक़त रखता हो; जो मेहनतकशों की वर्ग एकजुटता खड़ी कर सवर्णवादी पूँजीवादी ताक़तों से लड़ने की कूव्वत रखता हो; जो मेहनतकश आबादी में व्याप्त जातिगत पूर्वाग्रहों के विरुद्ध एक लम्बा प्रचार और शिक्षण चला सकता हो। आज जो सत्ता में बैठा है वह है पूँजीवाद, ब्राह्मणवादी, जातिवादी अस्मितावाद का गठजोड़; आज जो लुट रहा है वह है मज़दूर-मेहनतकश, जिसका एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा है ग़रीब दलित आबादी, पिछड़ी जातियों की आबादी, स्त्रियाँ और आदिवासी। सत्ता में बैठे पूँजीवादी, ब्राह्मणवादी, जातिवादी अस्मितावादी अपने वर्ग हितों पर एकजुट हैं, लेकिन जो लुट रहे हैं, बरबाद हो रहे हैं, जिनके ख़िलाफ़ उत्पीड़न हो रहा है, वे बँटे हुए हैं। ऐसे में, हमें एक ऐसा जाति-विरोधी आन्दोलन खड़ा करना होगा जोकि वर्ग एकजुटता पर आधारित हो और जो क़ानून, अदालत, संवैधानिक व्यवस्था को लेकर किसी भ्रम का शिकार न हो; जो अर्जियाँ देने और प्रतीकात्मक मुद्दों से आगे जाता हो। क्या पिछले कई दशकों से दलित मुक्ति और जाति-उन्मूलन के आन्दोलन के अस्मितावाद, प्रतीकवाद, सुधारवाद और क़ानूनवाद के गोल चक्कर में अटके रहने से पहले ही हम काफ़ी नुक़सान नहीं उठा चुके हैं? हमें इस गोल चक्कर से तत्काल निकलने की आवश्यकता है। आइए, आज के दिन एक जुझारू वर्ग आधारित जाति-उन्मूलन आन्दोलन खड़ा करने की शपथ लें।

ब्राह्मणवाद मुर्दाबाद! जातिवाद मुर्दाबाद! अस्मितावाद मुर्दाबाद! पूँजीवाद मुर्दाबाद! सुधारवाद मुर्दाबाद!

समूची मेहनतकश आबादी की वर्ग एकता ज़िन्दाबाद!

नौजवान भारत सभा अखिल भारतीय जाति-विरोधी मंच, महाराष्ट्र द्वारा जारी परचा।

लेनिन (1905)
समाजवाद और धर्म

वर्तमान समाज पूर्ण रूप से जनसंख्या की एक अत्यन्त नगण्य अल्पसंख्यक द्वारा, भूस्वामियों और पूँजीपतियों द्वारा, मज़दूर वर्ग के व्यापक अवाम के शोषण पर आधारित है। यह एक ग़ुलाम समाज है, क्योंकि "स्वतन्त्र" मज़दूर जो जीवन भर पूँजीपजियों के लिए काम करते हैं, जीवन-यापन के केवल ऐसे साधनों के "अधिकारी" हैं जो मुनाफ़ा पैदा करने वाले ग़ुलामों को जीवित रखने के लिए, पूँजीवादी ग़ुलामी को सुरक्षित और क़ायम रखने के लिए बहुत ज़रूरी हैं।

मज़दूरों का आर्थिक उत्पीड़न अनिवार्यतः हर प्रकार के राजनीतिक उत्पीड़न और सामाजिक अपमान को जन्म देता है तथा आम जनता के आत्मिक और नैतिक जीवन को निम्न श्रेणी का और अन्धकारपूर्ण बनाना आवश्यक बना देता है। मज़दूर अपनी आर्थिक मुक्ति के संघर्ष के लिए न्यूनाधिक राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते हैं, लेकिन जब तक पूँजी की सत्ता का उन्मूलन नहीं कर दिया जाता तब तक स्वतन्त्रता की कोई भी मात्रा उन्हें दैन्य, बेकारी और उत्पीड़न से मुक्त नहीं कर सकती। धर्म बौद्धिक शोषण का एक रूप है जो हर जगह अवाम पर, जो दूसरों के लिए निरन्तर काम करने, अभाव और एकान्तिकता से पहले से ही सन्त्रस्त रहते हैं, और भी बड़ा बोझ डाल देता है। शोषकों के विरुद्ध संघर्ष में शोषित वर्गों की निष्क्रियता मृत्यु के बाद अधिक सुखद जीवन में उनके विश्वास को अनिवार्य रूप से उसी प्रकार बल पहुँचाती है जिस प्रकार प्रकृति से संघर्ष में असभ्य जातियों की लाचारी देव, दानव, चमत्कार और ऐसी ही अन्य चीज़ों में विश्वास को जन्म देती है। जो लोग जीवन भर मशक्कत करते और अभावों में जीवन व्यतीत करते हैं, उन्हें धर्म इहलौकिक जीवन में विनम्र होने और धैर्य रखने की तथा परलोक सुख की आशा से सान्त्वना प्राप्त करने की शिक्षा देता है। लेकिन जो लोग दूसरों के श्रम पर जीवित रहते हैं उन्हें धर्म इहजीवन में दयालुता का व्यवहार करने की शिक्षा देता है, इस प्रकार उन्हें शोषक के रूप में अपने सम्पूर्ण अस्तित्व का औचित्य सिद्ध करने का एक सस्ता नुस्ख़ा बता देता है और स्वर्ग में सुख का टिकट सस्ते दामों दे देता है। धर्म जनता के लिए अफ़ीम है। धर्म एक प्रकार की आत्मिक शराब है जिसमें पूँजी के ग़ुलाम अपनी मानव प्रतिमा को, अपने थोड़े बहुत मानवोचित जीवन की माँग को, डुबा देते हैं।

लेकिन वह ग़ुलाम जो अपनी ग़ुलामी के प्रति सचेत हो चुका है और अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष में उठ खड़ा हुआ है, उसकी ग़ुलामी आधी उसी समय समाप्त हो चुकी होती है। आधुनिक वर्ग चेतन मज़दूर, जो बड़े पैमाने के कारख़ाना-उद्योग द्वारा शिक्षित और शहरी जीवन के द्वारा प्रबुद्ध हो जाता है, नफ़रत के साथ धार्मिक पूर्वाग्रहों को त्याग देता है और स्वर्ग की चिन्ता पादरियों और पूँजीवादी धर्मान्धों के लिए छोड़कर अपने लिए इस धरती पर ही एक बेहतर जीवन प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। आज का सर्वहारा समाजवाद का पक्ष ग्रहण करता है जो धर्म के कोहरे के ख़िलाफ़ संघर्ष में विज्ञान का सहारा लेता है और मज़दूरों को इसी धरती पर बेहतर जीवन के लिए वर्तमान में संघर्ष के लिए एकजुट कर उन्हें मृत्यु के बाद के जीवन के विश्वास से मुक्ति दिलाता है।

धर्म को एक व्यक्तिगत मामला घोषित कर दिया जाना चाहिए। समाजवादी अक्सर धर्म के प्रति अपने दृष्टिकोण को इन्हीं शब्दों में व्यक्त करते हैं। लेकिन किसी भी प्रकार की ग़लतफ़हमी न हो, इसलिए इन शब्दों के अर्थ की बिल्कुल ठीक व्याख्या होनी चाहिए। हम माँग करते हैं कि जहाँ तक राज्य का सम्बन्ध है, धर्म को व्यक्तिगत मामला मानना चाहिए। लेकिन जहाँ तक हमारी पार्टी का सवाल है, हम किसी भी प्रकार धर्म को व्यक्तिगत मामला नहीं मानते। धर्म से राज्य का कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए और धार्मिक सोसायटियों का सरकार की सत्ता से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को यह पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह जिसे चाहे उस धर्म को माने, या चाहे तो कोई भी धर्म न माने, अर्थात नास्तिक हो, जो नियमतः हर समाजवादी समाज होता है। नागरिकों में धार्मिक विश्वास के आधार पर भेदभाव करना पूर्णतः असहनीय है। आधिकारिक काग़ज़ात में किसी नागरिक के धर्म का उल्लेख भी, निस्सन्देह, समाप्त कर दिया जाना चाहिए। स्थापित चर्च को न तो कोई सहायता मिलनी चाहिए और न पादरियों को अथवा धार्मिक सोसायटियों को राज्य की ओर से किसी प्रकार की रियायत देनी चाहिए। इन्हें सम-विचार वाले नागरिकों की पूर्ण स्वतन्त्र संस्थाएँ बन जाना चाहिए, ऐसी संस्थाएँ जो राज्य से पूरी तरह स्वतन्त्र हों। इन माँगों को पूरा किये जाने से वह शर्मनाक और अभिशप्त अतीत समाप्त हो सकता है जब चर्च राज्य की सामन्ती निर्भरता पर, और रूसी नागरिक स्थापित चर्च की सामन्ती निर्भरता पर जीवित था, जब मध्यकालीन, धर्म-न्यायालयीय क़ानून (जो आज तक हमारी दण्डविधि संहिताओं और क़ानूनी किताबों में बने हुए हैं) अस्तित्व में थे और लागू किये जाते थे, जो आस्था अथवा अनास्था के आधार पर मनुष्यों को दण्डित करते, मनुष्य की अन्तरात्मा का हनन किया करते थे, और आरामदेह सरकारी नौकरियों तथा सरकार द्वारा प्राप्त आमदनियों को स्थापित चर्च के इस या उस धर्म विधान से सम्बद्ध किया करते थे। समाजवादी सर्वहारा आधुनिक राज्य और आधुनिक चर्च से जिस चीज़ की माँग करता है, वह है - राज्य से चर्च का पूर्ण पृथक्करण।

रूसी क्रान्ति को यह माँग राजनीतिक स्वतन्त्रता के एक आवश्यक घटक के रूप में पूरी करनी चाहिए। इस मामले में रूसी क्रान्ति के समक्ष एक विशेष रूप से अनुकूल स्थिति है, क्योंकि पुलिस-शासित सामन्ती एकतन्त्र की घृणित नौकरशाही से पादरियों में भी असन्तोष, अशान्ति और घृणा उत्पन्न हो गयी है। रूसी ऑर्थोडाक्स चर्च के पादरी कितने भी अधम और अज्ञानी क्यों न हों, रूस में पुरानी, मध्यकालीन व्यवस्था के पतन के वज्रपात से वे भी जागृत हो गये हैं, वे भी स्वतन्त्रता की माँग में शामिल हो रहे हैं। नौकरशाही व्यवहार और अफ़सरवाद के, पुलिस के लिए जासूसी करने के ख़िलाफ़ - जो "प्रभु के सेवकों" पर लाद दी गयी है - विरोध प्रकट कर रहे हैं। हम समाजवादियों को चाहिए कि इस आन्दोलन को अपना समर्थन दें। हमें पुरोहित वर्ग के ईमानदार सदस्यों की माँगों को उनकी परिपूर्णता तक पहुँचाना चाहिए और स्वतन्त्रता के बारे में उनकी प्रतिज्ञाओं के प्रति उन्हें दृढ़ निश्चयी बनाते हुए यह माँग करनी चाहिए कि वे धर्म और पुलिस के बीच विद्यमान सारे सम्बन्धों को दृढ़तापूर्वक समाप्त कर दें। या तो तुम सच्चे हो, और इस हालत में तुम्हें चर्च और राज्य तथा स्कूल और चर्च के पूर्ण पृथक्करण का, धर्म के पूर्ण रूप से और सर्वथा व्यक्तिगत मामला घोषित किये जाने का पक्ष ग्रहण करना चाहिए। या फिर तुम स्वतन्त्रता के लिए इन सुसंगत माँगों को स्वीकार नहीं करते, और इस हालत में तुम स्पष्टतः अभी तक आरामदेह सरकारी नौकरियों और सरकार से प्राप्त आमदनियों से चिपके हुए हो। इस हालत में तुम स्पष्टतः अपने शस्त्रों की आध्यात्मिक शक्ति में विश्वास नहीं करते, और राज्य की घूस प्राप्त करते रहना चाहते हो। ऐसी हालत में समस्त रूस के वर्ग चेतन मज़दूर तुम्हारे ख़िलाफ़ निर्मम युद्ध की घोषणा करते हैं।

जहाँ तक समाजवादी सर्वहारा की पार्टी का प्रश्न है, धर्म एक व्यक्तिगत मामला नहीं है। हमारी पार्टी मज़दूर वर्ग की मुक्ति के लिए संघर्ष करने वाले अग्रणी योद्धाओं की संस्था है। ऐसी संस्था धार्मिक विश्वासों के रूप में वर्ग चेतना के अभाव, अज्ञान अथवा रूढ़िवाद के प्रति न तो तटस्थ रह सकती है, न उसे रहना चाहिए। हम चर्च के पूर्ण विघटन की माँग करते हैं ताकि धार्मिक कोहरे के ख़िलाफ़ हम शुद्ध सैद्धान्तिक और वैचारिक अस्त्रों से, अपने समाचारपत्रों और भाषणों के साधनों से संघर्ष कर सकें। लेकिन हमने अपनी संस्था, रूसी सामाजिक जनवादी मज़दूर पार्टी की स्थापना ठीक ऐसे ही संघर्ष के लिए, मज़दूरों के हर प्रकार के धार्मिक शोषण के विरुद्ध संघर्ष के लिए की है। और हमारे लिए वैचारिक संघर्ष केवल एक व्यक्तिगत मामला नहीं है, सारी पार्टी का, समस्त सर्वहारा का, मामला है। यदि बात ऐसी ही है, तो हम अपने कार्यक्रम में यह घोषणा क्यों नहीं करते कि हम अनीश्वरवादी हैं? हम अपनी पार्टी में ईसाइयों अथवा ईश्वर में आस्था रखने वाले अन्य धर्मावलम्बियों के शामिल होने पर क्यों नहीं रोक लगा देते?

इस प्रश्न का उत्तर ही उन अति महत्वपूर्ण अन्तरों को स्पष्ट करेगा जो बुर्जुआ डेमोक्रेटों और सोशल डेमोक्रेटों द्वारा धर्म का प्रश्न उठाने के तरीक़ों में विद्यमान हैं।

हमारा कार्यक्रम पूर्णतः वैज्ञानिक, और इसके अतिरिक्त भौतिकवादी विश्व दृष्टिकोण पर आधारित है। इसलिए हमारे कार्यक्रम की व्याख्या में धार्मिक कुहासे के सच्चे ऐतिहासिक और आर्थिक स्रोतों की व्याख्या भी आवश्यक रूप से शामिल है। हमारे प्रचार कार्य में आवश्यक रूप से अनीश्वरवाद का प्रचार भी शामिल होना चाहिए; उपयुक्त वैज्ञानिक साहित्य का प्रकाशन भी, जिस पर एकतन्त्रीय सामन्ती शासन ने अब तक कठोर प्रतिबन्ध लगा रखा था और जिसे प्रकाशित करने पर दण्ड दिया जाता था, अब हमारी पार्टी के कार्य का एक क्षेत्र बन जाना चाहिए। अब हमें सम्भवतः एंगेल्स की उस सलाह का अनुसरण करना होगा जो उन्होंने एक बार जर्मन समाजवादियों को दी थी - अर्थात हमें फ्रांस के अठारहवीं शताब्दी के प्रबोधकों और अनीश्वरवादियों के साहित्य का अनुवाद करना और उसका व्यापक प्रचार करना चाहिए।

लेकिन हमें किसी भी हालत में धार्मिक प्रश्न को अरूप, आदर्शवादी ढंग से, वर्ग संघर्ष से असम्बद्ध एक "बौद्धिक" प्रश्न के रूप में उठाने की ग़लती का शिकार नहीं बनना चाहिए, जैसा कि बुर्जुआ वर्ग के बीच उग्रवादी जनवादी कभी-कभी किया करते हैं। यह सोचना मूर्खता होगी कि मज़दूर अवाम के सीमाहीन शोषण और संस्कारहीनता पर आधारित समाज में धार्मिक पूर्वाग्रहों को केवल प्रचारात्मक साधनों से ही समाप्त किया जा सकता है। इस बात को भुला देना कि मानव जाति पर लदा धर्म का जुवा समाज के अन्तर्गत आर्थिक जुवे का ही प्रतिबिम्ब और परिणाम है, बुर्जुआ संकीर्णता ही होगी। सर्वहारा यदि पूँजीवाद की काली शक्तियों के विरुद्ध स्वयं अपने संघर्ष से प्रबुद्ध नहीं होगा तो पुस्तिकाओं और शिक्षाओं की कोई भी मात्रा उन्हें प्रबुद्ध नहीं बना सकती। हमारी दृष्टि में, धरती पर स्वर्ग बनाने के लिए उत्पीड़ित वर्ग के इस वास्तविक क्रान्तिकारी संघर्ष में एकता परलोक के स्वर्ग के बारे में सर्वहारा दृष्टिकोण की एकता से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।

यही कारण है कि हम अपने कार्यक्रम में अपनी नास्तिकता को न तो शामिल करते हैं और न हमें करना चाहिए। और यही कारण है कि हम ऐसे सर्वहाराओं को, जिनमें अभी तक पुराने पूर्वाग्रहों के अवशेष विद्यमान हैं, अपनी पार्टी में शामिल होने पर न तो रोक लगाते हैं, न हमें इस पर रोक लगानी चाहिए। हम वैज्ञानिक दृष्टिकोण की शिक्षा सदा देंगे और हमारे लिए विभिन्न "ईसाइयों" की विसंगतियों से संघर्ष चलाना भी ज़रूरी है। लेकिन इसका ज़रा भी यह अर्थ नहीं है कि धार्मिक प्रश्न को प्रथम वरीयता दे देनी चाहिए। न ही इसका यह अर्थ है कि हमें उन घटिया मत-मतान्तरों और निरर्थक विचारों के कारण, जो तेज़ी से महत्वहीन होते जा रहे हैं और स्वयं आर्थिक विकास की धारा में तेज़ी से कूड़े के ढेर की तरह किनारे लगते जा रहे हैं, वास्तविक क्रान्तिकारी आर्थिक और राजनीतिक संघर्ष की शक्तियों को बँट जाने देना चाहिए।

प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ वर्ग ने अपने आप को हर जगह धार्मिक झगड़ों को उभाड़ने के दुष्कृत्यों में संलग्न किया है, और वह रूस में भी ऐसा करने जा रहा है - इसमें उसका उद्देश्य आम जनता का ध्यान वास्तविक महत्व की और बुनियादी आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं से हटाना है जिन्हें अब समस्त रूस का सर्वहारा वर्ग क्रान्तिकारी संघर्ष में एकजुट होकर व्यावहारिक रूप से हल कर रहा है। सर्वहारा की शक्तियों को बाँटने की यह प्रतिक्रियावादी नीति, जो आज ब्लैक हण्ड्रेड (राजतन्त्र समर्थक गिरोहों) द्वारा किये हत्याकाण्डों में मुख्य रूप से प्रकट हुई है, भविष्य में और परिष्कृत रूप ग्रहण कर सकती हैं। हम इसका विरोध हर हालत में शान्तिपूर्वक, अडिगता और धैर्य के साथ सर्वहारा एकजुटता और वैज्ञानिक दृष्टिकोण की शिक्षा द्वारा करेंगे - एक ऐसी शिक्षा द्वारा करेंगे जिसमें किसी भी प्रकार के महत्वहीन मतभेदों के लिए कोई स्थान नहीं है। क्रान्तिकारी सर्वहारा, जहाँ तक राज्य का सम्बन्ध है, धर्म को वास्तव में एक व्यक्तिगत मामला बनाने में सफल होगा। और इस राजनीतिक प्रणाली में, जिसमें मध्यकालीन सड़न साफ़ हो चुकी होगी, सर्वहारा आर्थिक ग़ुलामी के, जो कि मानव जाति के धार्मिक शोषण का वास्तविक स्रोत है, उन्मूलन के लिए सर्वहारा वर्ग व्यापक और खुला संघर्ष चलायेगा।

हस्ताक्षर : एन. लेनिन
नोवाया झिज्न, अंक 28, 3 दिसम्बर, 1905
संग्रहीत रचनाएँ, खण्ड 10, पृष्ठ 83-87

सुधार के नाम पर मेडिकल शिक्षा को बर्बाद करने की तैयारी

डॉ. नवमीत

मार्च 2016 में स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मन्त्रालय द्वारा गठित संसदीय समिति ने देश में मेडिकल एजुकेशन की लगातार ख़राब होती दशा पर रिपोर्ट सौंपी थी। रिपोर्ट में मुख्यतः ज़ोर मेडिकल कौंसिल ऑफ़ इण्डिया (एमसीआई) यानी भारतीय चिकित्सा परिषद और इसकी कार्यप्रणाली पर दिया गया है। किसी भी देश में मेडिकल शिक्षा को लागू करने और इसकी गुणवत्ता को देखने के लिए विशेष प्रावधान होता है। हमारे देश में यह काम एमसीआई करती है। रिपोर्ट में कहा गया है कि भारत में मेडिकल एजुकेशन का ढाँचा ख़राब हो चुका है और इसके लिए एमसीआई का मौजूदा संविधान ज़िम्मेदार है। जिस समय यह रिपोर्ट तैयार हो रही थी उसी समय सरकार ने नीति आयोग की देखरेख में भारतीय चिकित्सा परिषद एक्ट 1956 की समीक्षा के लिए एक तीन सदस्यीय कमेटी का गठन किया। 7 अगस्त तक इस कमेटी ने अपनी रिपोर्ट तैयार कर ली। कमेटी ने सुझाव दिया कि पुराने एमसीआई एक्ट को निरस्त कर दिया जाये और एक राष्ट्रीय मेडिकल आयोग का गठन किया जाये। कमेटी की रिपोर्ट में कहा गया है कि देश में अच्छी स्वास्थ्य सेवाओं के लिए अच्छी मेडिकल एजुकेशन का होना बहुत ज़रूरी है। अच्छी मेडिकल एजुकेशन के लिए एक लचीला और कार्यशील फ़्रेमवर्क होना ज़रूरी है। रिपोर्ट में आगे कहा गया है कि एमसीआई एक्ट इसी चीज़ को ध्यान में रखकर बनाया गया था लेकिन यह समय के साथ नहीं चल पा रहा है। रिपोर्ट के अनुसार पूरे ही ढाँचे में इतने नुक्स हैं कि इससे मेडिकल एजुकेशन और स्वास्थ्य सेवाएँ दोनों ही बुरी तरह से प्रभावित हो रही हैं। नीति आयोग की इस कमेटी के सुझाव मुख्यतः संसदीय स्टैण्डिंग कमेटी और रणजीत रॉय चौधरी एक्सपर्ट कमेटी (जुलाई 2015) की रिपोर्टों पर आधारित हैं। कमेटी ने एक रेगुलेटरी स्ट्रक्चर यानी नियामक संरचना के निर्माण का सुझाव दिया है और साथ में यह भी कि एक नये एक्ट के ज़रिये राष्ट्रीय मेडिकल आयोग का गठन किया जाये। संसदीय समिति ने भी केन्द्र सरकार को व्यापक सुधारों का सुझाव दिया था। संसदीय समिति ने कहा था कि एमसीआई पर और ज़्यादा भरोसा नहीं किया जा सकता। एमसीआई के मौजूदा ढाँचे और कार्यप्रणाली के चलते देश की जनता को स्वास्थ्य सेवाएँ अच्छे तरीक़े से नहीं मिल पा रही हैं। इसलिए सरकार को मेडिकल शिक्षा में मौजूद बुराइयों को दूर करने और मेडिकल एजुकेशन के स्तर को अन्तर्राष्ट्रीय मानकों तक उठाने के लिए इसके पूरे ढाँचे में रेडिकल सुधार करने होंगे। नीति आयोग की इस कमेटी ने सुप्रीम कोर्ट के मई 2016 में आये फ़ैसले का हवाला दिया था जिसमे कोर्ट ने रणजीत रॉय कमेटी के सुझावों पर अमल करने का आदेश दिया था।

बहरहाल प्रस्तावित ढाँचे के अनुसार मेडिकल एजुकेशन का राष्ट्रीय एजेंडा तय करने हेतु एक मेडिकल एडवाइजरी कौंसिल की स्थापना की जानी है जिसमें राज्यों और संघीय क्षेत्रों का भी प्रतिनिधित्व होगा। राष्टीय मेडिकल आयोग एक नीति निर्धारक बॉडी की तरह काम करेगी जिसके सदस्यों और अध्यक्ष का मनोनयन केन्द्र सरकार करेगी। इस तरह इसमें मुख्य शक्ति केन्द्र सरकार के पास रहेगी। साथ ही यह स्नातक चिकित्सा शिक्षा, परा स्नातक चिकित्सा शिक्षा, मेडिकल संस्थानों की मान्यता और आँकलन और इस पेशे की प्रैक्टिस के विनियमन के लिए चार अलग अलग स्वायत्त बोर्डों के गठन का भी प्रावधान करता है।

नीति आयोग की कमेटी का कहना है कि एमसीआई का मौजूदा स्वरूप शिक्षा प्रदाताओं के लिए एक बाधा बन गया है जबकि इसने मेडिकल एजुकेशन की गुणवत्ता में कोई सुधार नहीं किया है। यहाँ शिक्षा प्रदाताओं से मतलब प्राइवेट सेक्टर और कॉर्पोरेट के खिलाडियों से है जो मेडिकल शिक्षा को मुनाफ़े के लिए इस्तेमाल कर रहे हैं या करना चाहते हैं। एमसीआई का मौजूदा ढाँचा संस्थानों के पहले से तय मानकों की बुनियाद पर होने वाले निरिक्षण पर आधारित है और यह मेडिकल शिक्षा की गुणवत्ता की बजाय इंफ्रास्ट्रक्चर पर ज़्यादा फोकस करता है। नीति आयोग की कमेटी के अनुसार पहले से मानक तय करने की कोई ज़रूरत नहीं है, सिर्फ़ मेडिकल शिक्षा की गुणवत्ता पर ध्यान दिया जाना चाहिए। ठीक है कि मेडिकल शिक्षा समेत किसी भी क्षेत्र की शिक्षा की गुणवत्ता बेहद ज़रूरी चीज़ है लेकिन यहाँ नीति आयोग इंफ्रास्ट्रक्चर और मानकों के साथ शिक्षा की गुणवत्ता के अन्तर्सम्बन्धों को समझने में नाकाम रहा है या फिर जानबूझ कर इसको किनारे किया जा रहा है। बिना इंफ्रास्ट्रक्चर को ध्यान में रखे हुए और बिना मानक तय किये शिक्षा में गुणवत्ता किस प्रकार आएगी इसका कोई जवाब सरकार या नीति आयोग नहीं दे पा रहे हैं। इसके अलावा नीति आयोग कह रहा है कि मानकों पर खरा नहीं उतरने पर किसी संस्थान की मान्यता रद्द करने की ज़रूरत नहीं है। हालाँकि इससे पहले एमसीआई कुछ हद तक कुछ मेडिकल कॉलेजों की मान्यता मानकों पर खरा न उतरने के चलते रद्द करती आ रही थी। इसके पीछे नीति आयोग की कमेटी का तर्क है कि इससे एमसीआई को संस्थानों के ऊपर आवश्यकता से अधिक और नाजायज़ शक्तियाँ मिलती हैं जिनका इस्तेमाल भ्रष्टाचार के लिए किया जाता है। इसलिए कमेटी की सिफ़ारिश है कि संस्थानों (जिनमें मुख्यतः प्राइवेट संस्थान ही होते हैं) की मान्यता रद्द करने की बजाय रेटिंग सिस्टम लागू किया जाये। इसके अनुसार अच्छे मानकों वाले संस्थान को उच्च रेटिंग दी जाये और बुरे मानकों वाले संस्थान को नीचे वाली रेटिंग। कमेटी की सिफ़ारिश है कि निरिक्षण की बजाय शिकायत निवारण तन्त्र का निर्माण किया जाये और संस्थानों को ये सभी कमियाँ दूर करने का पूरा मौक़ा दिया जाये। जब बहुत बार मौक़ा मिलने पर भी संस्थान मानकों पर खरा नहीं उतरता तो उसकी मान्यता रद्द करने के बारे में सोचा जाये।

असल में नीति आयोग कमेटी की ये सभी सिफ़ारिशें पूरी तरह से बीजेपी की नीतियों से मेल खाती हैं। श्रम क़ानूनों में "सुधार" के नाम पर भी बीजेपी सरकार ने उनको खोखला बना दिया था। एक सुधार जो सरकार ने किया था वह यह था कि अब उद्योग नियमों के पालन का स्वप्रमाणपत्र दे सकेंगे, मतलब अपनी मर्जी से ख़ुद को सर्टिफिकेट। ऐसा ही कुछ सरकार मेडिकल शिक्षा में रेटिंग सिस्टम लागू करके करने जा रही है। एक अधिकारी का कहना है कि उद्योगों की तरह ही मेडिकल शिक्षा में इंस्पेक्टर राज चालू है जो विकास में बाधक है, इसलिए इसको ख़त्म करके कॉलेज मालिकों को छूट दी जानी चाहिए ताकि "विकास" का मार्ग प्रशस्त हो सके। नियमों को ख़त्म करने के लिए एक अन्य तर्क जो नीति आयोग दे रहा है वह यह है कि ज़्यादा कड़े नियम टेबल के नीचे से पैसे के लेनदेन की संस्कृति को बढ़ावा देते हैं। इसको रोकने के लिए नियमों में ढील देने की ज़रूरत है। संसदीय समिति ने भी कैपिटेशन फ़ीस का मुद्दा उठाया था और कहा था कि बहुत जगहों पर तो यह बहुत ज़्यादा है। ऐसा लगभग डेढ़ दशक से चल रहा है जबकि मेडिकल शिक्षा एक बिज़नस बनना शुरू हुआ था। इसको रोकने की बजाय नीति आयोग की कमेटी का कहना है कि प्राइवेट मेडिकल कॉलेजों की फ़ीस पर कोई नियन्त्रण न रखा जाये। इसका जो कारण कमेटी ने बताया है वह काफ़ी हास्यास्पद है। कमेटी का कहना है कि फ़ीस पर नियन्त्रण रखने से अन्दर खाते पैसे के लेनदेन को बढ़ावा मिलेगा, दूसरा ऐसा करने से प्राइवेट सेक्टर इस क्षेत्र में निवेश करने से कतरायेगा जिसकी वजह से देश में मेडिकल शिक्षा के प्रसार पर रोक लग जायेगी। इसलिए कैपिटेशन फ़ीस जैसी बुराइयों का बहुत बड़ा कारण फ़ीस पर नियन्त्रण ही है।

इसलिए कमेटी का कहना है कि प्राइवेट कॉलेजों की केवल कुछ सीटों की फ़ीस पर ही नियन्त्रण रखा जाये और बाक़ी को उनकी मर्जी पर छोड़ दिया जाये। इससे फ़ायदा यह होगा कि अमीरों से ज़्यादा पैसे लेकर ग़रीब छात्रों की कम फ़ीस की पूर्ति की जा सकेगी। अभी तक नियमों में ही सही (असल में ऐसा होता नहीं है), मेडिकल शिक्षा को एक नॉन प्रॉफिट व्यवसाय के रूप में ही मान्यता दी जाती है लेकिन कमेटी का कहना है कि ऐसा करने से इस क्षेत्र में निवेश कम हो रहा है जिसकी वजह से प्राइवेट शिक्षा प्रदाताओं की कमी हो रही है। दूसरा इसकी वजह से प्राइवेट संस्थान टेबल के नीचे से भ्रष्ट तरीक़े से मुनाफ़ा बना रहे हैं। इसलिए इन तमाम मौजूदा और आने वाले निजी संस्थानों को मुनाफ़ा कमाने की क़ानूनी छूट दे दी जाये।

अब होना तो यह चाहिए था कि सरकार पूरी शिक्षा प्रणाली सहित मेडिकल शिक्षा को भी अपने हाथ में ले और सबके लिए शिक्षा की व्यवस्था करे। हर ज़िले में मेडिकल कॉलेज खोले जिसमें सही तरीक़े से परीक्षा के आधार पर चयन हो। इस तरह से देश की स्वास्थ्य सेवाओं में भी उल्लेखनीय सुधार होता। लेकिन यह करने की बजाय कमेटी का कहना है कि ज़िलों में पहले से मौजूद सरकारी अस्पतालों को प्राइवेट सेक्टर के लिए खोल दिया जाये ताकि जनता के पास से रही सही सुविधाएँ भी छीन ली जायें। इसके अलावा अभी तक एमसीआई की सदस्यता के लिए चुनाव होते थे और केवल एक तिहाई सदस्यों का ही मनोनयन सरकार द्वारा किया जाता था। अब प्रस्ताव है कि चुनावों को बन्द कर दिया जाये और अध्यक्ष सहित सभी सदस्यों को केन्द्र सरकार ही मनोनीत करे। हालाँकि चुनाव से भी कोई बहुत ईमानदार व्यक्ति नहीं चुने जाते थे, लेकिन अब तो सरकार केवल "अपने" लोगों को मनोनीत करेगी और इनमें से भी सिर्फ़ एक डॉक्टर होगा, बाक़ी ब्यूरोक्रेट्स होंगे।

देखने में लग सकता है और सरकार का भी कहना है कि ये सभी सिफ़ारिशें बहुत रेडिकल हैं व इनसे मेडिकल शिक्षा के क्षेत्र में भ्रष्टाचार ख़त्म हो जायेगा और शिक्षा की गुणवत्ता में भी सुधार होगा। साथ में स्वास्थ्य सेवाओं में भी बढ़ावा मिलेगा। लेकिन यह असल में मेडिकल एजुकेशन और स्वास्थ्य सेवाओं को यह पूरी तरह से पूँजीपतियों के हाथ में सौंप देने की साजिश है। साफ़ तौर पर दिख रहा है कि सरकार को न तो भ्रष्टचार से कोई मतलब है, न ही मेडिकल शिक्षा की गुणवत्ता से और न ही स्वास्थ्य सेवाओं में सुधार से। सरकार को मतलब है तो बस प्राइवेट और कॉर्पोरेट सेक्टर को मुनाफ़ा पहुँचाने से। विश्व स्वास्थ्य संगठन के मानकों के अनुसार किसी भी देश को अपने सकल घरेलू उत्पाद का पाँच प्रतिशत स्वास्थ्य सेवाओं पर लगाना चाहिए लेकिन भारत दो प्रतिशत से भी कम लगाता है, बल्कि बीते वित्त वर्ष में तो सिर्फ़ 1.58 प्रतिशत ही लगाया था और इसमें सरकारी मेडिकल कॉलेजों पर लगाया गया पैसा भी शामिल है। ऐसे में एक तरफ़ तो सरकार विजय माल्या और तमाम पूँजीपतियों को लाखों करोड़ रुपये के लोन देती है, सब्सिडियाँ देती है जिनको लेकर या तो ये भाग जाते हैं या फिर इनका लोन माफ़ कर दिया जाता है। दूसरी तरफ़ जनता को स्वास्थ्य सेवाएँ ही उपलब्ध नहीं हैं। ऊपर से कोढ़ में खाज ये कि सरकार पहले से जर्जर हो चुके मेडिकल शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं के पूरे सिस्टम को इन्हीं रक्तपिपासु पूँजीपतियों को सौंपने जा रही है ताकि ये लोग देश की जनता का और अधिक ख़ून निचोड़ कर अपनी मुनाफ़े की हवस शान्त कर सकें।

यह पूँजीवाद है तो जाहिर है इसमें पूँजीपतियों के मुनाफ़े का ही ध्यान रखा जायेगा। लेकिन अगर हम समाजवादी देशों का उदाहरण लें तो हमको ज़मीन आसमान का अन्तर नज़र आता है। चीन में क्रान्ति के बाद मेडिकल एजुकेशन की तरफ़ विशेष तौर पर ध्यान दिया गया और इसके आधार पर पूरे देश की मेहनतकश जनता के लिए स्वास्थ्य सेवाओं का तन्त्र क़ायम किया गया। सरकार की तरफ़ से नये मेडिकल कॉलेजों की स्थापना की गयी और तमाम मेडिकल कॉलेजों और अस्पतालों के स्वामित्व, फ़ण्डिंग और संचालन की ज़िम्मेदारी ली गयी। प्राइवेट मेडिकल कॉलेज तो क्या प्राइवेट मेडिकल प्रैक्टिस तक का चलन बन्द हो गया। इनके परिणाम आश्चर्यजनक रहे थे। उदाहरण के तौर पर 1952 से 1982 तक, शिशु मृत्यु दर प्रति एक हज़ार पर 200 से घटकर 34 रह गयी थी और औसत आयु 35 से बढ़कर 68 वर्ष हो गयी थी। सिर्फ़ चीन ही नहीं बल्कि इससे पहले सोवियत संघ में और बाद में क्यूबा में भी मेडिकल एजुकेशन और स्वास्थ्य सेवाओं को क्रान्तिकारी तरीक़े से लागू किया गया और इनको सरकारी नियन्त्रण में रख कर विकसित किया गया जिसके आश्चर्यजनक परिणाम देखने को मिले थे। क्यूबा का स्वास्थ्य सेवाओं का ढाँचा तो आज भी पूरी दुनिया में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। वहाँ प्रति दस हज़ार की जनसंख्या पर क्यूबा में 67 डॉक्टर हैं जबकि भारत में यह अनुपात केवल 7 डॉक्टरों का है। उस पर भी सरकार पूरे ढाँचे को प्राइवेट हाथों में सौंपने की तैयारी कर रही है। ऐसे में सरकार की ईमानदारी और नीयत पर सवाल उठना लाजमी है।

(पेज 14 से आगे)

बलोचिस्तान के साथ हमदर्दी के पीछे छुपे अन्ध राष्ट्रवाद के इरादे

रोशन

जब से कश्मीर में हिंसा की ताज़ा घटनाएँ शुरू हुई हैं, तब से पाकिस्तान कश्मीर मसले पर लगातार बोलता रहा है। इसके साथ ही भारत सरकार भी 'पाकिस्तान-पाकिस्तान' के तोता रटन्त द्वारा कश्मीर में अपनी ओर से किये जुल्मों पर पर्दा डालने की पूरी कोशिश करती रही है। अन्ध राष्ट्रवाद की इस राजनीति में उस समय नया मोड़ आया जब मोदी ने पाकिस्तान पर जवाबी हमला करते हुए बलोचिस्तान का मसला छेड़ा। 15 अगस्त को लाल क़िले के बाद मोदी ने भी बलोचिस्तान पर बयान दिया। इस बयान में बलोचिस्तान, मकबूजा कश्मीर और गिलगिट में लोगों के चल रहे विरोध और उनके ऊपर पाकिस्तानी हुकूमत द्वारा किये जा रहे जुल्मों की बात की और इसको अन्तरराष्ट्रीय मुद्दा बनाने की बात कही। चैनलों ने इतिहासकारी और खोजबीन करके पाकिस्तान की ओर से बलोचिस्तान में किये जा रहे ज़ुल्मों की तफ़सीलों के ढेर लगा दिये। 'देशभक्त' लेखकों ने अख़बारों के पन्ने पाकिस्तान की ओर से बलोचिस्तान पर धोखे के साथ क़ब्ज़ा करने और बलोचिस्तान पर हो जुल्म के साथ भर दिये। अनेकों मामलों में तथ्यों के पक्ष सही होने के बावजूद ये रिपोर्टें सच्चाई सामने लाने के लिए नहीं बल्कि सच्चाई पर पर्दा डालने का काम करती रही हैं। भारतीय हुक्मरानों द्वारा बलोचिस्तान का राग छेड़ने के पीछे असल मक़सद क्या है - हम यहाँ उसकी चर्चा करेंगे।

पहले संक्षेप में बलोचिस्तान के इतिहास पर भी चर्चा ज़रूरी है। बलोचिस्तान, पाकिस्तान के कुल इलाक़े का 43 फ़ीसदी हिस्सा है और 1,47,000 वर्ग मील इलाक़े में फैला हुआ है। आबादी के हिसाब के अनुसार पाकिस्तान की कुल आबादी में से सिर्फ़ 5 फ़ीसदी लोग ही यहाँ के निवासी हैं। 1947 में बर्तानवी गुलामी से मुक्ति के समय बलोचिस्तान एक अलग रियासत थी। आज़ादी से महज़ दस दिन पहले 4 अगस्त, 1947 को मुहम्मद अली जिनाह ने यह हामी भरी थी कि "कालात (अब बलोचिस्तान) 5 अगस्त, 1947 को आज़ाद हो जायेगा और उसका सन 1838 वाला रुतबा दे दिया जायेगा और पड़ोसियों के साथ दोस्ताना सम्बन्ध बनाये जायेंगे।" पर बाद में 27 मार्च 1948 को बलोचिस्तान पर हल्ला बोलकर पूरे खित्ते को पाकिस्तान ने अपने क़ब्ज़े में ले लिया। बलोचिस्तान की आवाम तब से लगातार 1948, 1958-59, 1962-63, और 1973-74 से अपने हक़ों की रक्षा और ख़ुदमुख़्तारी के लिए पाकिस्तान के साथ युद्ध लड़ती आ रही है। सबसे अधिक ख़ूनी संघर्ष, जो अब भी जारी है, 2003 में शुरू हुआ था। पाकिस्तानी फ़ौज की ओर से वहाँ पर क़त्लेआम, ज़बर, गिरफ़्तारियाँ और लापता किये जाने की काफ़ी लम्बी गाथाएँ हैं।

बलोचिस्तान के इतिहास के अनुसार तो मोदी की टिप्पणी या मीडिया की बयानबाज़ी सही है पर इसका मकसद अलग है। इसका मकसद पाकिस्तान की ओर से किये गये ज़ुल्मों की चर्चा छेड़कर अपनी ओर से कश्मीर पर किये जा रहे ज़ुल्मों को ढँकने की कोशिश करना है। असल में भारत और पाकिस्तान में कोई ज़्यादा फ़र्क़ नहीं है। बलोचिस्तान और कश्मीर की कहानी में काफ़ी मेल है। पाकिस्तान जो कुछ बलोचिस्तान में कर रहा है वही भारत कश्मीर में कर रहा है। भारत बलोचिस्तान पर हो रहे ज़ुल्मों के ख़िलाफ़ बोलता है पर अपनी ओर से किये जा रहे कश्मीर पर ज़बर को जायज़ बताता है। इसी तर्ज़ पर पाकिस्तान कश्मीर में भारतीय हुकूमत की ओर से किये जा रहे ज़ुल्म के ख़िलाफ़ बोलता है पर ख़ुद अपनी ओर से बलोचिस्तान में किये जा रहे जुल्म को जायज़ मानता है। भारतीय मीडिया के लिए बलोचिस्तान में आज़ादी के नारे सही हैं पर कश्मीर (भारत) में लगे नारे 'देशद्रोह' हैं और बिल्कुल यही बात पाकिस्तान के लिए भी सच है। इस तरह मोदी सरकार और देशभक्त मीडिया की ओर से बलोचिस्तान के बारे में बोलने का मतलब है कश्मीर में अपनी ओर से किये जा रहे गुनाहों पर पर्दा डालना, बिल्कुल उसी तरह जैसे पाकिस्तान कश्मीर पर हो रहे ज़बर के ख़िलाफ़ शोर मचाकर अपनी ओर से बलोचिस्तान, मकबूजा कश्मीर और गिलगिट में किये कुकर्मों को ढँकना चाहता है। दोनों देशों के हुक्मरान एक-दूसरे की ओर से किये जा रहे ज़बर को ढँकते हुए अपनी ओर से किये जा रहे ज़बर की जवाबदेही से बचना चाहते हैं।

भारत और पाकिस्तान में एक साँझा पक्ष यह है कि दोनों देश अपने आप में कोई राष्ट्र नहीं हैं बल्कि भिन्न-भिन्न राष्ट्रीयतओं के समूह हैं। दोनों देशों में लोगों को आपस में बाँधकर रखने वाली साँझी देश स्तरीय राजनीतिक व्यवस्था है। यह राजनीतिक व्यवस्था मुट्ठी भर लुटेरों के हाथ, बहुसंख्यक आबादी की लूट, ज़बर का ही साधन है, फिर भी यह राजनीतिक व्यवस्था अपने देश के लोगों में एक अन्धा राष्ट्रवाद पैदा करके एक सहमति हासिल करने की कोशिश में रहता है। पर यह राष्ट्रवाद एकता में से पैदा नहीं होता बल्कि दूसरे देश के प्रति नफ़रत में से पैदा होता है। "हिन्दुस्तान ज़िन्दाबाद" का नारा किसी एकता, साँझ में से उतना ज़ज़्बा हासिल नहीं करता जितना पाकिस्तान मुर्दाबाद के नारे में से हासिल करता है। यह बात पाकिस्तान के बारे में भी सच है। इस तरह दोनों देशों के हुक्मरान एक-दूसरे के साथ नफ़रत जगाकर एक मरीयल क़िस्म का अन्धा राष्ट्र बनाने में कामयाब रहे हैं। इसी राष्ट्रवाद के पर्दे के पीछे भारत कश्मीर और पूर्वी भारत के राष्ट्रों को दबाये रखने में अपने लोगों की सहमति हासिल करता है। इसी तरह भारत विरोधी नफ़रत के साथ पाकिस्तान के हुक्मरान बलोचिस्तान, मकबूजा कश्मीर और गिलगिट में किये जा रहे ज़बर के लिए बाक़ी देशों से सहमति हासिल करता है। इसी कारण भारत कश्मीर में जो कुछ भी होता है उसको पाकिस्तानी दख़लअन्दाज़ी के सिर मड़ देता है और पाकिस्तान बलोचिस्तान की घटनाओं को भारतीय हिमायत के सिर मड़ देता है। अगर "पाकिस्तान मुर्दाबाद" का नारा ना हो तो हिन्दुस्तान के लोगों के मनों की खोखली एकता, राष्ट्रवाद बिखर जायेगा, बिल्कुल उसी तरह जैसे "भारत मुर्दाबाद" के नारे के बिना पाकिस्तान का राष्ट्रवाद भी बिखर जायेगा। इस तरह भारत और पाकिस्तान के बीच का तनाव दोनों देशों के हुक्मरानों के लिए फ़ायदेमन्द साबित हो रहा है।

दूसरा नुक्ता जिस पर बात किये जाने की ज़रूरत है, वह है, जिस तरह ये दोनों देश एक-दूसरे के अन्दरूनी संकट को साज़िशों, अलगाववादियों की मदद द्वारा बढ़ावा देते हैं। पाकिस्तान कश्मीर मसले में अन्दर से कैसे कुछ अलगाववादी ग्रूपों को आर्थिक, हथियारों और प्रशिक्षण के रूप में मदद कर रहा है, उसकी अकसर ही चर्चा चलती रहती है। 1980-1991 के आतंकवाद के शिखर वाले दौर में पाकिस्तान ने कश्मीर में अलगाववादियों को हथियारों का प्रशिक्षण देने के लिए सरहद के साथ कैम्प लगाये हुए हैं। पर बिल्कुल इसी तर्ज़ पर जो काम भारत कर रहा है उसकी चर्चा नाममात्र ही होती है।

भारत पाकिस्तान में आतंकवादियों और विद्रोही राष्ट्रीयतों की मदद द्वारा पाकिस्तान के अन्दरूनी संकट को और तीखा करके उसको कमज़ोर करने की नीति पर चल रहा है। इस नीति पर 30 मई 2014 को प्रधानमन्त्री मोदी का राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार बने अजीत दोवाल ख़ासतौर पर चल रहा है। इस नीति पर वह 2004 से चल रहा है जब वह आईबी में था। इस सम्बन्ध में अंग्रेज़ी मैगज़ीन 'फ़्रण्टलाइन' (13 नवम्बर 2015) में ए.जी. नूरानी के छपे एक लेख (द दोवाल डोकट्रिन) में से कुछ हिस्सों का अनुवाद कर रहे हैं।

फ़रवरी 2014 में दोवाल ने कहा : "पाकिस्तान वह पड़ोसी है जो लगातार हमें ज़ख्म देता है। अगर हमारी घरेलू हालत बहुत कमज़ोर हो गयी तो हम इसको कैसे हल करेंगे। हमें एक हल ढूँढ़ना पड़ेगा जो लम्बे समय के लिए, टिकाऊ और सम्भव हो। दूसरा है समस्या को परिभाषित करना। इसके लिए हमें समझना होगा कि आतंकवाद क्या है। आमतौर पर जब हम आतंकवाद के बारे में बात करते हैं तो यह कहा जाता है कि यह मूर्खाना, अमानवीय है आदि। हाँ यह है, पर ये दाव-पेंच के मसले हैं। असल में आतंकवादी विचारधारात्मक या राजनीतिक उच्चता हासिल करने का एक दाव-पेंच है।

"तो पाकिस्तान के साथ निपटने की क्या राह है? हम अपने दुश्मन के साथ तीन तरीक़ों से निपटेंगे। पहला है कि रक्षात्मक... मतलब किसी को अन्दर आने से रोकना। दूसरा है रक्षात्मक हमला। अपने आप को बचाने के लिए हम उस जगह जाते हैं जहाँ हमला हो रहा है। हम अब रक्षात्मक पोजीशन में हैं। आख़िरी है हमला पुजीशन। जब हम रक्षात्मक हमले की पुजीशन में आ गये तो हम पाकिस्तान की कमज़ोरियों पर काम करेंगे। ये आर्थिक हो सकती हैं, अन्दरूनी हो सकती हैं, राजनीतिक हो सकती हैं।

"मैं ज़्यादा विस्तार में नहीं बताऊँगा पर हमें रक्षात्मक पुजीशन से आगे बढ़ना होगा।..."पाकिस्तान की कमज़ोरियाँ हमसे कई गुणा बड़ी हैं। एक बार उन्होंने जान लिया कि भारत रक्षात्मक पुजीशन से रक्षात्मक हमले पर आ गया है तो वह समझ लेंगे कि हम उनके बस की बात नहीं।" फिर वह पंक्ति आती है जो काफ़ी चर्चा में रही है, "आप एक मुम्बई (पर हमला) कर सकते हो पर आप बलोचिस्तान हार सकते हो।" यह आँखें खोलने वाला खुलासा है। यह दोवाल के सिद्धान्त का पूरी स्पष्टता के साथ केन्द्रीय तथ्य है।

आगे, "हमें पाकिस्तान की ज़रूरत नहीं। पर अगर पाकिस्तान आतंकवाद को अपनी सत्ता की नीति के एक औज़ार के रूप में नहीं त्यागता तो उसको तालीबान के साथ लड़ने दो। दूसरा मसला आतंकवादियों के प्रति व्यवहार का है। तीसरा मसला उनको हथियार, पैसा, मानवीय ताक़त देने से रोकने का है। ... अगर उनका 500 करोड़ का बज़ट है तो हम 1800 कर सकते हैं। वह भाड़े के सिपाही हैं। क्या आप सोचते हो कि वह महान जरनैल हैं। नहीं, इसलिए हमें गुप्त क़दम उठाने चाहिए। हम एक बड़ा देश हैं इसलिए हम उनको पैसे की ताक़त के साथ जीतेंगे। इसलिए हमें मुस्लिम यूनियनों में काम करना चाहिए, उनकी भी यही इच्छा है। अन्त में, आओ एक अहम क़दम उठायें। उच्च तकनीक की ओर बढ़ें और उत्तर में जासूसी द्वारा की जाने वाली कारवाईयों की तैयारी करें।"

उचित प्रतिहमले द्वारा ही भारत मुम्बई जैसे किसी और हमले का जवाब नहीं दे सकता है। पर दोवाल के पाकिस्तान का बलोचिस्तान हार जाने की बात करने का युद्ध के बिना और क्या मतलब है? दो ताज़ा घटनाओं की चर्चा यहाँ करना प्रासंगिक है। 'द इण्डियन एक्सप्रेस' (23 सितम्बर, 2015) ने बताया कि भारतीय फ़ौज ने 'तकनीकी सेवा डिवीजन' (टीएसडी - भारतीय फ़ौज का ख़ूफ़िया विंग) सम्बन्धी कुछ दस्तावेज़ फ़ौज मुखी वी के सिंह का कार्यकाल ख़त्म होने से पहले तबाह कर दिये थे। सुशान्त सिंह लिखते हैं, "रिपोर्टों के अनुसार जाँच (जो उसकी कार्यकाल ख़त्म होने के बाद शुरू हुई थी) से पता लगा है कि टीएसडी ने दावा किया कि उसने पराये देश में कम-से-कम आठ ख़ूफ़िया ऑपरेशन चलाये हैं। टीएसडी ने यह भी दावा किया है कि अक्टूबर और नवम्बर 2011 में इसने पड़ोसी मुल्क़ के राज्य में अलगाववादी मुखी को भर्ती करने के लिए सीक्रेट सर्विस फ़ण्डों में से पैसे दिये हैं। इस अन्दाज़े का मज़बूत आधार है कि "विदेशी मुल्क़" पाकिस्तान और "राज्य" बलोचिस्तान था।

यह बात अक्टूबर, 2015 में ज़ाहिर हुई जब बीएलओ (बलोचिस्तान लिबरेशन ऑर्गनाइज़ेशन) के नुमाइन्दे ने दिल्ली प्रेस कॉन्फ़्रेंस में शिरक़त की और जलावतन किये आगू का बयान पढ़कर सुनाया। उसकी प्रेस कॉन्फ़्रेंस की रिपोर्ट दिलचस्प है जो ('द हिन्दू' अख़बार के) दो पत्रकारों, कलोल भट्टाचार्य और सुहासनी हैदर, द्वारा मिली है। वह लिखते हैं :

"पाकिस्तान के क़ब्ज़े के बीच कश्मीर में कथित मानवीय हक़ों की उल्लंघना की बात करने के पीछे, भारत बलोचिस्तान के मामले में सख़्त कदम लेने की तैयारी कर रहा है, यह दक्षिणी ब्लॉक की पाकिस्तान के बारे में अतीत की नीति से प्रमुख रूप में दूर हटना था।

"इस नई नीति की बात 4 अक्टूबर 2015 को तब उजागर हुई जब बीएलओ (बलोचिस्तान लिबरेशन ऑर्गनाइज़ेशन) के नुमाइन्दे बालाच पारदिलाई ने एक सभा को सम्बोधित किया और बीएलओ के जलावतन किये आगू नवाबजादा हाइबियार मरी का बयान पढ़ा।

"पाकिस्तान के विरुद्ध बलोचिस्तान की आज़ादी के लिए लड़ने वाली बीएलओ ने 'द हिन्दू' को दिल्ली में अपने नुमाइन्दे के बारे में बताया। यह पारदिलाई था जो 2009 से दिल्ली में रह रहा था और जिसके साथ नवाबजादा मरी की ओर से एक प्रेस कॉन्फ़्रेंस करके उसका बयान जारी करने के लिए सम्पर्क किया था।

"भले नई नीति के बारे में कुछ भी नहीं बताया गया, पर अधिकारियों ने 'द हिन्दू' को बताया कि जब भारत जम्मू कश्मीर के मसले को लेकर पाकिस्तान की ओर से दोष लगाये जाने का सामना करेगा तो पाकिस्तान के क़ब्ज़े में कश्मीर और बलोचिस्तान का ज़्यादा से ज़्यादा प्रयोग किया जायेगा।...

"पारदिलाई ने 'द हिन्दू' को बताया कि वह दिल्ली में सुरक्षित महसूस कर रहा है और उसको आर.एस.एन. सिंह की अगवाई वाले भाजपा के एक हिस्से और भगत सिंह क्रान्ति सेना के तजिन्दर सिंह की मदद मिल रही है।" ('द हिन्दू', 8 अक्टूबर, 2015)

इससे साफ़ होता है कि भारत काफ़ी समय से ही बलोचिस्तान पर साजिशी ढंग से काम कर रहा है जिसमें पाकिस्तान पर हमले की नीति से बीएलओ के बाग़ियों की मदद करना है। इसी का नतीजा मोदी का 15 अगस्त को दिया भाषण है। अजीत दोवाल की बनायी जिस नीति पर चलकर भारत पाकिस्तान के बीच के अलगाववादी ग्रूपों, आंतकवादियों को इस्तेमाल करके पाकिस्तान को कमज़ोर करना चाहता है वह नीति अमेरिका से उधारी ली गयी है। इसी नीति पर चलते हुए अमेरिका ने मध्यपूर्व, लीबिया, इराक़, मिस्र आदि में राज्य पल्ट करवाये हैं, अफ़गानिस्तान में मुज़ाहिदीनों को सीआईए द्वारा ट्रेनिंग देकर आम लोगों का ख़ून बहाने

'लेनिन कथा' से दो अंश

दमनचक्र

पीटर्सबर्ग में पुतीलोव कारख़ाने के मालिकों ने बेवजह तीन मज़दूरों को नौकरी से निकाल दिया। सिर्फ़ इसलिए कि फोरमैन उन्हें पसन्द नहीं करता था। इस पर कारख़ाने में असन्तोष की ज़बरदस्त लहर दौड़ गयी।

"हमें कोई अधिकार नहीं हैं। हमें अधिकार दो। हमारा ख़ून चूसने वाले फोरमैन मुर्दाबाद!" मज़दूरों ने माँग की।

कारख़ाने में हड़ताल हो गयी। सभी मज़दूरों ने काम करने से इन्कार कर दिया। कारख़ाना निष्क्रिय हो गया। दो और कारख़ाने भी ठप्प हो गये। अगले दिन और 360 कारख़ानों और फैक्टरियों के मज़दूर हड़ताल पर चले गये। मशीनें रुक गयीं। सारा पीटर्सबर्ग जड़ हो गया। सब इन्तज़ार कर रहे थे कि आगे क्या होगा।

रविवार, 9 जनवरी, 1905 को हज़ारों मज़दूर सड़कों पर निकल पड़े।

"चलो, ज़ार से न्याय माँगें," मज़दूर कह रहे थे। "ज़ार हमारे पिता की तरह है। वह हमें भूखा नहीं मरने देगा।"

बोल्शेविकों ने समझाया : वहाँ मत जाओ, ज़ार तुम्हारी नहीं सुनेगा।

मज़दूर बढ़ते रहे। यह सोचकर कि ज़ार नहीं जानता कि जनता की कैसी दुर्दशा है और ज्यों ही जान जायेगा, त्यों ही हमारा पक्ष लेने लगेगा, इन बदमाश मालिकों और फोरमैनों को सज़ा देगा। नहीं तो हमारा जीवन ही दूभर हो गया है। मज़दूर ज़ार के पास दरख़्वास्त लेकर जा रहे थे। रविवार की सुबह को पीटर्सबर्ग के कोने-कोने से मज़दूरों के जुलूस शीत प्रासाद की ओर बढ़ने लगे। सड़कों और स्क्वायरों पर लोगों का ताँता लगा हुआ था। भीड़ हाथों में देवप्रतिमाएँ और गिरजाघरों के झण्डे लिये हुए थी, जिन पर सुनहरी कशीदाकारी चमक रही थी। जुलूसों में औरतें और बच्चे भी थे। सभी के मन में विश्वास था, आँखो में अनुरोध था।

लेकिन यह क्या? चौराहों पर बन्दूक़ें हाथ में लिये सिपाहियों की टुकड़ियाँ खड़ी थीं। उनके आगे सफ़ेद दस्ताने पहने अफ़सर खड़े थे।

यह वह समय था, जब सुदूर पूर्व में घमासान लड़ाई छिड़ी हुई थी। लगभग सालभर पहले जापान ने रूस पर आक्रमण किया था। रूसी जनरल इसके लिए बिल्कुल तैयार नहीं थे। पफलतः रूसी सेना दिन-प्रतिदिन हारती जा रही थी। हज़ारों सिपाही दूर, कहीं दूर मारे जा रहे थे...

और यहाँ, पीटर्सबर्ग में, ज़ारशाही अधिकारियों ने अपने ही निहत्थे मज़दूरों के विरुद्ध सारी राजधानी में फौज खड़ी कर दी थी। क्यों? किसलिए?

"व्यवस्था बनाये रखने के लिए," माता मरियम की प्रतिमा हाथ में लिये एक मज़दूर ने समझाया। "शायद भीड़ से डर गये हैं।"

चौक के पार पत्थर का बना विशाल शीत प्रासाद खड़ा था। उसकी सैकड़ों खिड़कियाँ मूकवत देख रही थीं। प्रासाद के सामने मैदान में सफ़ेद, अनरौंदी बर्फ़ पड़ी थी। भयावह चेहरों वाले सिपाहियों की घनी पंक्ति प्रासाद की रक्षा कर रही थी। भीड़ को देखकर अफ़सर ने हाथ उठाया। सभी संगीनें तन गयीं।

"भाइयो, सिपाहियो, डराओ नहीं!" मज़दूर चिल्लाये। "हम अपने ही हैं। ज़ार से सिर्फ़ दरख़्वास्त करने जा रहे हैं।"

"ठहरो! आगे बढ़ना मना है!" अफ़सर ने चिल्लाते हुए हुक्म दिया।

मज़दूर क्षणभर के लिए असमंजस में पड़ गये। मगर पीछे की कतारों ने, जिन्होंने सिपाहियों को नहीं देखा था, आगे को धक्का दिया।

"हे प्रभु, ज़ार चिरायु हो!" सारा स्क्वायर गूँज उठा।

आगे की कतारों के मज़दूर सफ़ेद रूमाल फहराने लगे।

"हम निहत्थे, शान्तिप्रिय हैं! हम ज़ार के सामने दरख़्वास्त पेश करना चाहते हैं!" मज़दूर चिल्लाये और धार्मिक झण्डे, देवप्रतिमाएँ और सफ़ेद रूमाल उठाये आगे बढ़ते रहे।

"फायर!" अफ़सर ने आदेश दिया।

गोलियाँ दनदनायीं। भीड़ में से कोई बीस मज़दूर धराशायी हो गये।

"फायर!" अफ़सर फिर चिल्लाया।

गोलियाँ फिर दनदाने लगीं।

"फायर! फायर! फायर!"

चौक में भगदड़ मच गयी। लोग घरों के दरवाज़ों में छिपने के लिए भागे और मुर्दा होकर गिर पड़े। शीत प्रसाद के सामने का मैदान लाशों से पट गया। तभी तलवारें भाँजते हुए घुड़सवार सैनिक भी आ गये।

"भाइयो! मारे गये!" भयाकुल भीड़ की चीख़-पुकार से स्क्वायर गूँज उठा।

"लानत है! लानत है!"

"देख लिया अपने ज़ार को?" गुस्से से एक युवा बोल्शेविक चिल्लाया। "यह है तुम्हारा ज़ार, जिसमें तुम्हें इतना विश्वास था! किस निर्मम जानवर में तुमने विश्वास किया था!"

मज़दूर समझ गये। गोलियाँ ज़ार ने ही चलवायी थीं। ज़ार के ऊपर से जनता का विश्वास सदा-सदा के लिए उठ गया।

उस ख़ूनी रविवार को पीटर्सबर्ग में एक हज़ार से अधिक मज़दूर मारे गये और पाँच हज़ार घायल हुए।

शाम तक पीटर्सबर्ग की सड़कों पर लैम्पपोस्ट गिरा-गिराकर बैरिकेड खड़े हो गये। मज़दूरों ने ज़ारशाही के खिलाफ़ जंग का ऐलान कर दिया।

....

जेनेवा के बाहरी छोर पर, आर्वा नदी के समीप कारूझ नाम की एक सड़क थी। रूसी प्रवासी उसे कारूझका सड़क कहते थे। इस इलाक़े में अधिकांश आबादी उन्हीं की थी। यहाँ लेपेशीन्स्की दम्पति का एक भोजनालय था। दोनों पति-पत्नी साइबेरियाई निर्वासन के दौरान व्लादीमिर इल्यीच के साथी रह चुके थे। लेपेशीन्स्की भोजनालय को सभी रूसी प्रवासी जानते थे। पहली मंज़िल

पर बड़ा-सा कमरा और आम खिड़कियों की जगह पर दो प्रदर्शन-

खिड़कियाँ। तख़्तों की बनी लम्बी, साफ़-सुथरी मेज़ें और एक कोने में पियानो। यह भोजनालय ही नहीं, एक तरह से बोल्शेविकों का क्लब भी था। यहाँ लोग व्याख्यान सुनते, शतरंज खेलते और राजनीतिक चर्चा करते...

पीटर्सबर्ग के ख़ूनी रविवार की ख़बर जेनेवा पहुँचते ही सभी प्रवासी बिना किसी के बुलाये स्वतः लेपेशीन्स्की भोजनालय में एकत्र हो गये। सब ख़ामोश थे, निस्स्तब्ध थे, गम्भीर थे। बोल्शेविक समझ गये कि रूस में व्यापक, अभूतपूर्व विद्रोह शुरू हो गया है।

"घर लौटना है, वतन लौटना है!" व्लादीमिर इल्यीच सोच रहे थे।

कोई शोकातुर स्वर में गाने लगा :

तुम चढ़े बलिवेदी पर संघर्ष की...

दूसरों ने खड़े होकर उसका साथ दिया :

निस्स्वार्थ प्रेम की, लोकस्नेह की।

तुमने किया सर्वस्व न्यौछावर

जनता के सुख, आज़ादी की ख़ातिर।

बहुतों की आँखों में आँसू थे।

"रूस में क्रान्ति हो रही है," भावविह्वल स्वर में व्लादीमिर इल्यीच ने कहा।

क्रान्ति! कितना जोशीला, कितना प्रिय था यह शब्द! उसी शाम लेनिन ने 'व्पेर्योद' (आगे बढ़ो) अख़बार के लिए एक ललकार भरा लेख लिखा। यह बोल्शेविकों का नया अख़बार था। 'ईस्क्रा' पर मेन्शेविकों का कब्ज़ा हो गया था।

लेनिन ने लिखा : "विद्रोह शुरू हो गया है। ताक़त का जवाब ताक़त देने लगी है। सड़कों पर लड़ाइयाँ हो रही हैं, बैरिकेड खड़े हो रहे हैं, गोलियाँ सनसना रही हैं, तोपें गड़गड़ा रही हैं। ख़ून की नदियाँ बह चली हैं, स्वाधीनता के लिए गृहयुद्ध छिड़ गया है...

"क्रान्ति ज़िन्दाबाद!

"सर्वहारा विद्रोह ज़िन्दाबाद!"

सागर में लाल झण्डा

गर्मियाँ ख़त्म होने को आ रही थीं। एक दिन जेनेवा में उल्यानोवों के घर की घण्टी बजी।

"वोलोद्या, तुमसे मिलने कोई आये हैं," नदेज़्दा कोन्स्तान्तिनोव्ना ने एक अपरिचित नौजवान के लिए दरवाज़ा खोलते हुए कहा।

नौजवान का चेहरा गोल और किशोरों की तरह भोला था और काली भौंहों के नीचे भूरी, उजली आँखें उत्सुकता और ¯कचित आश्चर्य से देख रही थीं।

"आइये, आइये! आप से मिलकर हमें बहुत ख़ुशी हुई है," नदेज़्दा कोन्स्तान्तिनोव्ना ने कहा और मन ही मन सोचने लगी : "कितना प्यारा नौजवान है! चेहरा बताता है कि निश्छल और नेक है। ज़रूर रूस से आया होगा।"

रूस में मज़दूरों की हड़तालें, प्रदर्शन, वग़ैरह अभी जारी थे। वतन से बोल्शेविक व्लादीमिर इल्यीच से सलाह लेने प्रायः आया करते थे।

नदेज़्दा कोन्स्तान्तिनोव्ना के पीछे-पीछे नौजवान ने लेनिन के कमरे में प्रवेश किया। मगर कमरे में पैर रखने से पहले दहलीज़ पर उसने सैनिकों की तरह हलके से अपनी छाती को तान लिया था।

"आप कहाँ से हैं?" व्लादीमिर इल्यीच ने मुस्कुराते हुए पूछा।

"मैं युद्धपोत 'पोत्योम्किन' का जहाज़ी अफानासी मात्यूशेन्को हूँ।"

आगन्तुक ने जवाब दिया।

व्लादीमिर इल्यीच ने तेज़ी से आगे बढ़कर बड़े उत्साह से उससे हाथ मिलाया।

"क्रान्तिकारी 'पोत्योम्किन' के जहाज़ियों के नेता! नाद्यूशा, देखो तो कितने युवा हैं!..."

आधे घण्टे बाद स्पिरिट के चूल्हे पर तामचीनी की केतली खौल रही थी। मेज़ पर स्वादिष्ट रोटी और ताज़ा, पीला मक्खन रखा था।

"हाँ, तो बताइये, आप क्या बताने जा रहे थे," जब अतिथि चाय के साथ रोटी के कुछ टुकड़े खा चुका तो व्लादीमिर इल्यीच ने बेसब्री के साथ पूछा।

जहाज़ी अफ़फानासी मात्यूशेन्को अपने युद्धपोत 'पोत्योम्किन' की कहानी सुनाने लगा।

यह हाल ही में निर्मित और अत्यन्त शक्तिशाली तोपों से लैस सबसे बड़ा जहाज़ था। उसमें सात सौ चालीस जहाज़ी काम करते थे। उस समय वह सेवास्तोपोल में लंगर डाले हुए था।

रूस में हर कहीं क्रान्ति का ज्वार आया हुआ था। गाँवों में किसान ज़मींदारों के खिलाफ़ उठ खड़े हुए थे। रूसी-जापानी यु(अभी ख़त्म नहीं हुआ था। जापानी जीत रहे थे और रूसियों को एक के बाद एक करारी हार खानी पड़ रही थी। त्सूसीम्स्की खाड़ी में हमारे जहाज़ों की एक पूरी टुकड़ी नष्ट हो गयी थी। ज़ारशाही सरकार सड़ी हुई और संकटग्रस्त थी। जनता ज़ार निकोलाई द्वितीय से नफ़रत करती थी।

युद्धपोत 'पोत्योम्किन' का कमाण्डर बहुत ही क्रूर और निर्दयी आदमी था। उसे डर था कि कहीं क्रान्ति की आग जहाज़ पर भी न पफैल जाये। इसलिए वह सामरिक अभ्यास के बहाने युद्धपोत को सेवास्तोपोल से, मज़दूर हड़तालों और प्रदर्शनों से दूर समुद्र में ले गया।

खुले समुद्र की बात है। एक दिन सुबह घण्टी बजने पर सभी जहाज़ी उठे। सबको उनका काम बाँट दिया गया। जहाज़ियों के एक बड़े दल को डेक धोने का काम सौंपा गया।

अचानक वे पाते हैं कि ऊपरी डेक से असह्य बू आ रही है। जहाज़ी ऊपर चढ़े, तो देखते हैं कि वहाँ खूँटियों पर गोश्त लटका हुआ है और उसमें मोटे-मोटे सफ़ेद कीड़े रेंग रहे हैं। कीड़े इतने अधिक थे कि लगता था कि गोश्त ख़ुद-ब-ख़ुद हरकत कर रहा है। यह दृश्य देखकर जहाज़ियों को उबकाई आने लगी।

"तो यह है हमें खिलाने के लिए!"

"हम कीड़े नहीं खायेंगे, ख़ुद अफ़सर लोग खायें इन्हें!"

"कौन? अफ़सर? अरे, उनके लिए तो अलग राशन है!"

दिन के खाने की घण्टी बजी। जहाज़ी खाने के हॉल में इकट्ठा हुए। रसोइये ने सूप परोसा, तो उसमें भी कीड़े तैर रहे थे।

"हम नहीं खायेंगे!"

सारे हॉल में एक भयावह-सी ख़ामोशी छा गयी। रसोइये ने डरकर अफ़सर को बुलाया। वह आते ही गालियाँ देने लगा, पर ज्यों ही जहाज़ियों के सफ़ेद, कठोर चेहरों पर नज़र पड़ी, तो एकाएक चुप हो कमाण्डर को बताने चल दिया। शीघ्र ही नगाड़े की आवाज़ सुनायी दी। यह जनरल लाइन-अप का संकेत था। जहाज़ी हड़बड़ाते हुए ऊपरी डेक की ओर दौड़े और लाइन बाँधकर खड़े हो गये। चारों तरफ़ नीला समुद्र था और ऊपर खुला, शुभ्र आसमान। समुद्र में छोटी-छोटी लहरें उठ रही थीं। उनमें डोलफिनों के झुण्ड खेल रहे थे।

"तुम लोग बग़ावत करते हो!" कमाण्डर चिल्लाया। "मैं तुम्हें दिखाता हूँ कि सैनिक पोत पर बग़ावत कैसे की जाती है! किसने उकसाया है?"

जहाज़ी चुप, बुत की तरह खड़े रहे। सामने बन्दूक़ें ताने सन्तरियों की क़तार थी।

"तिरपाल लाओ!" कमाण्डर ने आदेश दिया।

क्या मतलब था इसका? इसका मतलब था कि कमाण्डर ने बग़ावत उकसाने वालों को प्राणदण्ड देने का निश्चय कर लिया है। वह उँगली दिखाकर कहेगा : "तुमने उकसाया था" और बस।

तिरपाल लाकर डेक पर खोल दी गयी। अभी उससे जहाज़ियों को ढँक देंगे। उसके नीचे होने का मतलब था प्राणदण्ड। बिना किसी सुनवाई के प्राणदण्ड!

सभी सकते में आ गये। मौत अब आयी, तब आयी...बचाव कोई नहीं था। चारों तरफ़ नीला समुद्र था, गर्म धूप से आलोकित आसमान था, निर्बाध हवा थी।

सहसा क़तार से एक जहाज़ी आगे उछला :

"भाइयो! कब तक सहेंगे? हथियार उठाओ, भाइयो!"

और सबसे आगे-आगे शस्त्रागार की तरफ़ लपक पड़ा। यह अफानासी मात्यूशेन्को था। साथी उसे वैसे भी बहुत अशान्त स्वभाव कहा करते थे।

"जल्लाद कमाण्डर मुर्दाबाद!" मात्यूशेन्को चिल्लाया। "ज़ार मुर्दाबाद! आज़ादी ज़िन्दाबाद, साथियो!"

क़तारें टूट गयीं। जहाज़ियों ने बन्दूक़ें उठा लीं।

सीनियर अफ़सर ने बुर्जी के पीछे छिपकर पिस्तौल दाग़ी। गोली जहाज़ियों के नेता, बोल्शेविक, अटल और साहसी साथी वाकूलिन्चूक को लगी। वह गिर गया।

(पेज 6 पर जारी)

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2017-2019
प्रेषण डाकघर : आर।एम।एस, चारबाग, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 20, प्रत्येक माह

"अच्छे दिन" के कानफाड़ू शोर के बीच 2% बढ़ गयी किसानों और मज़दूरों की आत्महत्या दर! मुनाफ़े की व्यवस्था में बर्बाद होना ही छोटे किसानों की नियति है!

मुनीश मैन्दोला

हम इस लेख में इस बात को समझने की कोशिश करेंगे कि मुख्यत: कौन सा किसान आत्महत्या कर रहा है - धनी किसान या छोटे ग़रीब किसान और क्यूँ?! राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो (एनसीआरबी) के आँकड़ों के अनुसार साल 2015 में कृषि सेक्टर से जुड़ी 12602 आत्महत्याओं में 8007 किसान थे और 4595 कृषि मज़दूर। साल 2014 में आत्महत्या करने वाले किसानों की संख्या 5650 और कृषि मज़दूरों की 6710 थी यानी कुल मिलाकर 12360 आत्महत्याएँ। इन आँकड़ों के अनुसार किसानों की आत्महत्या के मामले में एक साल में जहाँ 42 फ़ीसदी की बढ़ोतरी हुई वहीं कृषि मज़दूरों की आत्महत्या की दर में 31.5 फ़ीसदी की कमी आयी है व आत्महत्या करने वाले कुल किसान व कृषि मज़दूरों की संख्या 2014 के मुक़ाबले 2 फ़ीसदी बढ़ गयी है। किसानों व कृषि मज़दूरों को 2014 से अलग-अलग गिना जाने लगा है। यानी कि "रामराज्य" के खोखले वादे के साथ भाजपा सरकार के सत्ता में आने के लगभग ढाई साल बाद भी किसानों व कृषि मज़दूरों की आत्महत्याओं का सिलसिला लगातार जारी है और इसमें कुल मिलाकर 2% की बढ़ोतरी ही हुई है। इससे नतीजा निकलता है कि पूँजीवादी चुनावों से मात्र सत्ता परिवर्तन होता है ना कि व्यवस्था परिवर्तन। इन चुनावों से मात्र इतना सा तय होता है कि इस बार धनी शासक वर्ग या लुटेरे वर्गों की कौन सी पार्टी (=गिरोह) शासन करेगा और आम ग़रीब जनता को इस सत्ता परिवर्तन से कुछ नहीं मिलता!

अगर हम केवल किसानों की बात करें तो किसानों की आत्महत्या के मामले में 2014 के मुक़ाबले 2015 में लगभग 42 फ़ीसदी की बढ़ोतरी हुई है। 3,030 मामलों के साथ महाराष्ट्र देश (37.8%) में किसानों की आत्महत्या की संख्या सबसे ज़्यादा दर्ज की गयी। तेलंगाना दूसरा था, 1,358 मामलों के साथ, और 1197 के साथ कर्नाटक तीसरे स्थान पर रहा। महाराष्ट्र के 6 ज़िले, तेलंगाना, आन्ध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ और कर्नाटक कुल किसान आत्महत्याओं की 94.1% के लिए ज़िम्मेदार है। 8007 किसानों में से 3097 (38.7 फ़ीसदी) की मौत की वजह क़र्ज़ बताया गया है। 1562 (19.2 फ़ीसदी) किसानों की मौत की वजह खेती से जुड़ी अन्य समस्याओं को बताया गया है। आँकड़ों के अनुसार आत्महत्या करने वाले 73 फ़ीसदी किसानों के पास दो एकड़ या उससे कम ज़मीन थी। 2015 में जिन राज्यों में किसान आत्महत्या न के बराबर रही उनमें बिहार, पश्चिम बंगाल, गोवा, हिमाचल प्रदेश, जम्मू-कश्मीर, झारखण्ड, मिज़ोरम, नगालैण्ड और उत्तराखण्ड शामिल हैं।

अगर हम किसान व कृषि मज़दूरों को इकट्ठा लें तो इन मौतों में क़रीब 87.5 फ़ीसदी केवल देश के सात राज्यों में हुई हैं। आत्महत्या के मामले में सबसे ज़्यादा ख़राब स्थिति महाराष्ट्र की रही। राज्य में साल 2015 में 4291 किसानों ने आत्महत्या कर ली। महाराष्ट्र के बाद किसानों की आत्महत्या के सर्वाधिक मामले कर्नाटक (1569), तेलंगाना (1400), मध्य प्रदेश (1290), छत्तीसगढ़ (954), आन्ध्र प्रदेश (916) और तमिलनाडु (606) में सामने आये। महाराष्ट्र में सबसे ज़्यादा खेतिहर मज़दूरों की आत्महत्या के 1261 मामले सामने आये। जबकि मध्य प्रदेश में 709 और तमिलनाडु में 604 मामले सामने आये। रिपोर्ट में उन सभी को किसान माना गया है जिनके पास अपना खेत हो या लीज़ पर खेत लेकर खेती करते हैं। रिपोर्ट में उन लोगों को कृषि मज़दूर माना गया है जिनकी जीविका का आधार दूसरे खेतों पर मज़दूर के रूप में काम करना है।

इस आँकड़ों से यह साबित होता है कि केवल सूखे के कारण ये आत्महत्याएँ नहीं हो रही हैं जैसा कि नाना पाटेकर कह रहे हैं जो आजकल ज़ोर-शोर से किसानों की मदद के लिए अभियान चला रहे हैं और कह रहे हैं कि इस समस्या के लिए सरकार को ज़िम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि बरसात ही बेहद कम हुई है और यही भ्रम पूँजीवादी प्रचार चैनल भी फैला रहे हैं। अगर यही सच है तो सूखा तो पिछले 2 साल से पड़ा है पर जब उसके पिछले सालों में बारिश हो भी रही थी तब भी आत्महत्याओं का ये सिलसिला नहीं रुका और सूखा तो ग़रीब किसान और धनी किसान के लिये बराबर पड़ेगा तब फिर केवल वे ग़रीब किसान ही आत्महत्या क्यों कर रहे हैं जिनके पास 2 एकड़ से कम खेत हैं जैसा कि ऊपर दिये गये आँकड़े बता रहे हैं?! और पंजाब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश आदि में तो पानी की कोई कमी नहीं है तब फिर वहाँ से भी समय-समय पर किसानों के द्वारा आत्महत्या की ख़बरें क्यों आती रहती हैं?! यानी कि मात्र सूखा इन आत्महत्याओं के लिए ज़िम्मेदार नहीं है। दूसरी बात यह कि इन आत्महत्याओं का असली कारण है मुनाफ़े के लिए की जाने वाली पूँजीवादी खेती जिसमें बाज़ार के लिए उत्पादन होता है ताकि अधिकतम सम्भव मुनाफ़ा कमाया जा सके। यही कारण है कि सबसे ज़्यादा आत्महत्याएँ देश के उन राज्यों यानी कि महाराष्ट्र, तेलंगाना, आन्ध्र प्रदेश आदि में हो रही हैं जहाँ कृषि में पूँजीवादी क़िस्म की आधुनिक कॉर्पोरेट फ़ार्मिंग हो रही है जिसके तहत कपास, गन्ना जैसी नक़दी फ़सल उगाने के लिए अमीर धनी कुलक किसान व बड़ी कम्पनियाँ ट्रैक्टर, नये उपकरण, बिजली, महँगी खाद, उर्वरक आदि की मदद से आधुनिक पूँजीवादी खेती करते हैं। मुनाफ़े के लिए पैदावार में हर कोई ज़्यादा से ज़्यादा पैदा करना चाहता है और मण्डी का ज़्यादा से ज़्यादा हिस्सा हड़पना चाहता है। अधिक मुनाफ़े के लिए धनी किसान मालिक व बड़ी कम्पनियाँ कृषि की उन्नत तकनीकें, बीज, खाद आदि पर निवेश लगातार बढ़ाते रहते हैं व अधिक बड़े स्तर पर निवेश करते हैं और इसके लिए वह क़र्ज़ा भी लेते हैं। उनके लिए क़र्ज़ा लेना कोई समस्या नहीं होती बल्कि वह आसानी से प्राप्त होने वाली राशि होती है जिसको ब्याज़ समेत चुकाकर भी वह मुनाफ़ा कमा लेते हैं। इसलिए मण्डी में आने वाले उत्पाद का बड़ा हिस्सा धनी

(पेज 10 पर जारी)

नकली देशभक्ति का शोर और सेना के जवानों की उठती आवाज़ें

• तपिश

लोग आमतौर पर सेना को गाय और गंगा के समान पवित्र मानते हैं। पवित्रता का यह मिथक लोगों के दिलो-दिमाग़ में गहरे तक पैठा हुआ है। सरकार, सेना मीडिया और अन्धराष्ट्रवादी पार्टियों के प्रचार ने इस भ्रम को गहरा बनाने में बहुत बड़ी भूमिका निभायी है। यही वजह है कि जब कभी संयोगवश कोई ऐसी घटना घटती है जो सेना की पवित्रता के इस मिथक पर चोट करती हो तो पहली प्रतिक्रिया स्वरूप लोग घटना के तथ्य को ही मानने से इंकार करते हैं या उसे अपवाद बताकर पल्ला झाड़ने की कोशिश करते हैं। सेना, सरकार और मीडिया की तो बात ही क्या, आम लोग भी स्वीकार नहीं कर पाते हैं कि भारत की सेना में भ्रष्टाचार, छुआछूत और वर्ग-विभेद का बोलबाला है, कि सेना न सिर्फ़ आम जनता का दमन-उत्पीड़न करती है बल्कि वर्ग-प्रभुत्व की इस संस्था के भीतर अधिकारी और अफ़सर लोग सैनिकों का उत्पीड़न भी करते हैं।

हाल के दिनों में बीएसएफ़ के जवान तेज बहादुर ने सोशल मीडिया पर एक वीडियो डालकर सेना में मौजूद बड़े पैमाने के भ्रष्टाचार की ओर सबका ध्यान खींचा। इसके बाद सीआरपीएफ़ और सेना के जवानों के दो और वीडियो आये। ग्रह मन्त्रालय और सेना ने बेशर्मी के साथ भ्रष्टाचार के आरोपों को सिरे से ख़ारिज कर दिया। कुछ ''देशभक्तों'' ने इन जवानों को देशद्रोही तक घोषित किया तो कुछ और ने इसे सेना को बदनाम करने की साज़िश क़रार दिया।

हमें भूलना नहीं चाहिए कि ये ख़बरें इसलिए ज़्यादा चर्चा में आयी क्योंकि यह सोशल मीडिया पर वायरल हो गयी थी। प्रिण्ट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया द्वारा इनकी अनदेखी करना मुमकिन नहीं रह गया था। ऐसी घटनाएँ भारतीय सेना के लिए नयी नहीं हैं। देश की सुरक्षा के नाम पर इन्हें दबाया जाता रहा है। शायद पाठकों को याद हो कि 17 अगस्त 2012 के दिन के. मैथ्यू नाम का मिलिट्री इंजीनियरिंग रेजीमेण्ट का एक जवान दिल्ली में 200 फ़ीट ऊँचे टावर पर चढ़ गया था। उसकी माँग थी कि वह रक्षा मन्त्री से मिलकर अपने साथ होने वाले भेदभाव की शिकायत करना चाहता था। उसे रक्षा मन्त्री से मिलने नहीं दिया गया। पाँचवें दिन जब वह भूख-प्यास के मारे ऊपर ही बेहोश हो गया तब कहीं जाकर उसे नीचे उतारा गया और अस्पताल में भर्ती कराया गया। कोई नहीं जानता कि इस घटना के बाद उस सिपाही और उसकी माँगों का क्या हुआ। 8 अगस्त 2012 को जम्मू-कश्मीर के साँबा में तैनात तिरुअनन्तपुरम के अरुण वी. ने अपने अफ़सर द्वारा प्रताड़ित किये जाने के बाद स्वयं को गोली मारी थी। उसकी

आत्महत्या का ख़बर फैलते ही यूनिट में बग़ावत हो गयी और अफ़सरों ने क्वार्टरों के भीतर स्वयं को बन्द करके अपनी जान बचायी। पास ही के इलाक़े से दो यूनिटें भेजकर इस विद्रोह को दबाया गया। जवानों और सेना के अधिकारियों के बीच होने वाले ख़ूनी संघर्षों का यह अकेला और एकमात्र उदाहरण नहीं है।

स्थितियाँ कितनी खराब हैं इसका अन्दाज़ा रक्षा पर बनी पार्लियामेण्ट्री स्टैण्डिंग कमेटी की 31वीं रिपोर्ट से लगाया जा सकता है। रिपोर्ट बताती है कि 2007 से 2010 के बीच जहाँ 208 जवानों की आतंकी मुठभेडों में मौत हुई वहीं 368 ने आत्महत्या की और 15 से 30 ने आत्महत्या की विफल कोशिशें की। सच्चाई यह है कि सेना के अफ़सर जवानों के साथ उसी तरीक़े का बर्ताव करते हैं जैसे मालिक अपने नौकर के साथ करता है। इस बात को ठीक से समझने के लिए पूर्वसैनिकों की उन माँगों को देखा जाना चाहिए जो पेंशन आन्दोलन के दौरान जन्तर-मन्तर पर धरने पर बैठे थे। वॉइस ऑफ़ एक्स सर्विसमैन नाम के सैनिकों के एक संगठन के 19-सूत्रीय माँगपत्रक की चार माँगें सेना में फैली ग़ैर-बराबरी और उत्पीड़न का प्रातिनिधिक उदाहरण है। ये माँगें इस प्रकार हैं :

1. छुआछूत और रहने की जगहों का घेटोकरण बन्द किया जाये। (इस माँग की वजह यह है कि सैन्यकर्मियों के लिए मकान बनाने वाली संस्था आर्मी वेल्फ़ेयर हाउसिंग ऑर्गनाइज़ेशन अफ़सरों और सैनिकों के लिए रिहाइश के अलग-अलग क्लस्टर बनाती है।)
2. सेवादारी ख़त्म की जाये। (अफ़सर अपने सैनिकों से झाड़ू, पोंछा, दूध मँगवाना, खाना बनाना, कपड़ों की धुलाई, जूता पॉलिश आदि-आदि घरेलू काम करवाते हैं)
3. अफ़सरों और सैनिकों के टॉयलेट अलग-अलग क्यों?
4. सेना में भ्रष्टाचार ख़त्म हो और ऐसी संस्था बनायी जाये जहाँ सैनिक बिना डरे अफ़सरों की शिकायतें दर्ज कर सकें।

तो ऐसी है भारत की सेना के अन्दर की सच्चाई। जो लोग इसे पवित्र और आदर्श संस्था मानते हैं उन्हें यह सब जानकर धक्का लग सकता है। बहुत से लोगों का विश्वास है कि जवान सेना में देशभक्ति की ख़ातिर जाते हैं। एक रिसर्च सर्वे बताता है कि 77 प्रतिशत लोग सेना में ऊँची तनख्वाहों और इफ़रात सुविधाओं के आकर्षण में जाते हैं। 17 प्रतिशत इसलिए जाते हैं क्योंकि इस पेशे का समाज में बड़ा सम्मान होता है और 6 प्रतिशत इसलिए जाते हैं क्योंकि उन्हें देश सेवा करनी होती है।

वास्तविक हालात चीख़-चीख़कर बता रहे हैं कि भारतीय समाज की सभी वर्ग संस्थाओं की तरह भारत की सेना भी अन्दर से सड़-गल रही है। धनी वर्ग के खाते-पीते तबक़े के बहुत थोड़े से लोग इसमें अफ़सर बनकर जाते हैं और उजड़ते किसानों और मज़दूरों तथा निम्न मध्य वर्ग के बेटे-बेटियाँ इसमें सिपाही और कारकून बनकर जाते हैं। इतिहास गवाह है कि जब तेलंगाना, तेभागा, पुनप्रा-वायलर, नक्सलबाड़ी (दार्ज़िलिंग) के आम मेहनतकशों और किसानों ने जुल्म और शोषण के ख़िलाफ़ सीधी कार्यवाहियाँ शुरू की तो भारत के लुटेरे शासकों ने अपनी सत्ता को बचाने के लिए इसी भारतीय सेना को जनता के दमन के लिए मैदान में उतारा था। आज भी किसानों और आदिवासियों की जंगल-ज़मीनें और उसके नीचे छिपी खनिज सम्पदा की लूट को निरापद बनाने

(पेज 7 पर जारी)

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक: सुखविन्दर, अभिनव ● सम्पाकीय पता: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006